विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

chakladar

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष १६
अंक ३

विवेक - ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७८ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

फोन : २४५८९

अनुक्रमणिका

—: ० :—

कवर चित्र परिचय -— **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रणस्थल : संजीव प्रिन्टिंग प्रेस, नागपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १६] जुलाई – अगस्त – सितम्बर] अंक ३

★ १९७८ ★

अपरोक्ष अनुभव चाहिए

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ।।

—जैसे दवा को बिना पिये केवल 'दवा' 'दवा' कहने से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्ष अनुभव के बिना केवल 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

—विवेकचूड़ामणि, ६४

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका

१ जुलाई, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हारी भेजी हुई मिशनरियों की पुस्तक के साथ रामनाड़ के राजा साहब का फोटो मुझे मिला। राजा साहब तथा मैसूर के दीवान साहब, इन दोनों को ही मैंने पत्र लिखा है। रमाबाई के दल के लोगों के साथ डॉ० जेन्स के वाद-विवाद से यह स्पष्ट है कि मिशनरियों की उक्त पुस्तक बहुत दिन पहले ही यहाँ आ पहुँची है। उस पुस्तक में एक बात असत्य है। मैंने इस देश में किसी बड़े होटल में कभी भोजन नहीं किया है, साथ ही मैं होटल में रहा भी बहुत ही कम हूँ। चूँकि 'बाल्टिमोर' के छोटे होटलवाले अज्ञ हैं--नीग्रो समझकर किसी काले आदमी को वे स्थान नहीं देते, इसलिए डॉ० ब्रुमन को--जिनका कि मैं अतिथि था--मुझे वहाँ के एक बड़े होटल में ले जाने को बाध्य होना पड़ा था; क्योंकि इन लोगों को नीग्रो तथा विदेशियों का भेद मालूम है। आलासिंगा, मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम लोगों को स्वयं अपनी रक्षा करनी है, दुधमुँहे बच्चों की तरह तुम क्यों आचरण कर रहे हो ? यदि कोई तुम्हारे धर्म पर आक्रमण करता है, तुम उससे क्यों नहीं

अपने धर्म-समर्थन द्वारा बचाव करते ? जहाँ तक मेरा प्रश्न है, तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है; यहाँ पर शत्रुओं की अपेक्षा मेरे मित्रों की संख्या कहीं अधिक है यहाँ के निवासियों में ईसाइयों की संख्या एक-तिहाई है और शिक्षित व्यक्तियों में से मात्र थोड़े व्यक्ति मिशनरियों की परवाह करते हैं। दूसरी तरफ बात और है कि मिशनरी लोग जिस विषय का विरोध करते हैं, मिशनरियों के विरुद्ध होने की बात से शिक्षित लोग इसे पसन्द करते हैं। मिशनरियों का प्रभाव अब यहाँ काफी घट चुका है तथा दिनोंदिन और भी घटता जा रहा है। हिन्दूधर्म पर उनके आक्रमण यदि तुम्हें चोट पहुँचाते हैं, तो चिड़चिड़े बच्चों की तरह क्यों तुम मेरे पास अपना रोना रोते हो ? क्या तुम उसका जवाब नहीं दे सकते तथा उनके धर्म के दोषों को नहीं दिखला सकते ? कायरता तो कोई धर्म नहीं है !

यहाँ पहले से ही मेरे अनुगामी हैं। आगामी वर्ष उनका संगठन कार्य-संचालन के आधार पर करूँगा। और मेरे भारत चले जाने पर भी यहाँ मेरे ऐसे अनेक मित्र रहेंगे, जो कि यहाँ पर मेरे सहायक होंगे तथा भारत में भी मेरी सहायता करते रहेंगे; अतः तुम्हारे लिए डरने की कोई बात नहीं है। किन्तु जब तक तुम लोग मिशनरियों द्वारा किये गये आक्रमण का कोई प्रतिकार न कर केवल मात्र चिल्लाते तथा कूदते रहोगे, तब तक मैं तुम्हारे कृत्यों को देखकर हँसता रहूँगा। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम लोग तो मानो बच्चों के हाथ के खिलौने हो, हाँ, खिलौने

हो। 'स्वामीजी, मिशनरी लोग हमें काट रहे हैं, उफ, बड़ी जलन है, क्या करना चाहिए !' स्वामीजी आखिर बूढ़े बच्चों के लिए कर ही क्या सकते हैं ?

वत्स, मैं तो यह समझता हूँ कि वहाँ जाकर मुझे तुम लोगों को मनुष्य बनाना होगा। मैं यह जानता हूँ कि भारत में केवल मात्र नपुंसक तथा नारियों का निवास है। इसमें उद्विग्न होने की कोई बात नहीं है। भारत में कार्य करने के लिए मुझे साधन जुटाने की भी व्यवस्था करनी होगी। दुर्बलमस्तिष्क तथा अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में मैं नहीं पड़ना चाहता हूँ।

तुम लोगों को घबड़ाना नहीं चाहिए, जितना सम्भव हो, कार्य करते रहो, चाहे वह कितना भी कम क्यों न हो। मुझे अकेला ही आद्योपान्त सब कुछ करना है। कलकत्ते के लोग इतने संकुचित मनोवृत्ति के हैं ! और तुम मद्रासी लोग इतने डरपोक हो कि कुत्ते की आवाज से भी चौंक उठते हो !! 'कायर लोग इस आत्म-तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते।' मेरे लिए तुम्हें डरना नहीं चाहिए, प्रभु मेरे साथ हैं। तुम लोग केवल मात्र अपनी ही रक्षा करते रहो और मुझे यह दिखलाओ कि तुम इस कार्य को कर सकते हो, तभी मुझे सन्तोष होगा। कौन मेरे बारे में क्या कर रहा है, इस विषय को लेकर मुझे तंग न करो। किसी मूर्ख की मेरी समालोचना सुनने के लिए मेरे पास समय नहीं है। तुम बच्चे हो, तुम्हें क्या पता है कि असीम धैर्य, महान् साहस तथा कठोर प्रयत्न से ही उत्कृष्ट फल की प्राप्ति

हुआ करती है। किडी की अन्तरात्मा जिस प्रकार समय समय पर पल्टा खाने में अभ्यस्त है, मुझे शंका है कि उसके फलस्वरूप उसके भावों का भी परिवर्तन हो रहा है। जरा बाहर निकलकर वह कलम क्यों नहीं पकड़ता ? 'स्वामी जी, स्वामीजी,' की रट न लगाकर क्या मद्रासी लोग उन दुष्टों के विरुद्ध संग्राम की घोषणा नहीं कर सकते, जिससे कि उन्हें दयाप्रार्थी बनकर 'त्राहि, त्राहि' की आवाज लगानी पड़े ? तुम्हें डर किस बात का है ? केवल साहसी व्यक्ति ही महान् कार्यों को कर सकते हैं—कायर व्यक्ति नहीं। अविश्वासियो, सदा के लिए यह जान रखना कि प्रभु मेरा हाथ पकड़े हुए है। जब तक मैं पवित्र तथा उसका दास बना रहूँगा, तब तक कोई भी मेरा बाल बाँका न कर सकेगा।

तुम लोग जल्दी ही पत्रिका प्रकाशित कर डालो। जैसे भी हो, मैं बहुत शीघ्र ही तुम लोगों को और रुपये भेज रहा हूँ तथा बीच बीच में भेजता रहूँगा। कार्य करते चलो ! अपनी जाति के लिए कुछ करो—इससे वे लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। पहले मिशनरियों के विरुद्ध चाबुक लेकर उनकी खबर लो। तब समग्र जाति तुम्हारे साथ होगी। साहसी बनो, साहसी बनो—मनुष्य सिर्फ एक बार ही मरा करता है। मेरे शिष्य कभी भी किसी भी प्रकार से कायर न बनें।

सदा प्रीतिबद्ध,

विवेकानन्द

●

दुर्गादास पाईन का मान-भंग

तब श्रीरामकृष्ण १२-१३ वर्ष के थे, गदाधर के नाम से गाँव में परिचित। गदाधर सबका प्यारा था। उसके मधुर कण्ठ से भजन सुनने को सब तरसते। पड़ोस की स्त्रियाँ उसका भजन सुनने रोज उसके यहाँ आ जातीं। वह इतना तन्मय होकर देवी-देवताओं के भजन गाता कि ये स्त्रियाँ भी क्षणभर के लिए अपना देह-भान भूल जातीं। कभी कभी गदाधर स्त्री-वेश धारण कर स्त्रियों के समान अभिनय और भाषण करता। उसका अभिनय इतना सजीव होता कि अनजान मनुष्य यह नहीं पहचान पाता कि यह पुरुष है! एक बार गदाधर स्त्री-वेश में अन्य स्त्रियों के साथ हालदारपुकुर (तालाब) से पानी भर लाया, पर उसे किसी ने नहीं पहचाना।

कामारपुकुर में गूजर गली में सीतानाथ पाईन नाम के एक सज्जन रहते। उनकी स्त्री और कन्या गदाधर पर बड़ा स्नेह रखतीं। वे गदाधर को कई बार अपने घर ले जातीं और उससे भजन-गीत सुना करतीं। कई बार उसे स्त्री-वेश में सजा उसके हाव-भाव देखतीं और उसके स्त्री के समान भाषण और वार्तालाप सुनतीं। सीतानाथ गदाधर को बहुत चाहते थे, अतः उसे उनके यहाँ जाने की सदा स्वतन्त्रता थी।

उसी गली में एक दूसरे सज्जन दुर्गादास पाईन रहा करते। गदाधर पर उनका भी बड़ा प्रेम था, पर उनके

यहाँ परदे की बड़ी प्रथा थी। वे गदाधर को अपने यहाँ स्त्रियों के बीच नहीं जाने देते थे। अपने घर की परदा-प्रणाली का उन्हें बड़ा अभिमान था। वे बड़ी शेखी से कहते, "मेरे घर की स्त्रियाँ कभी किसी की नजर में नहीं पड़तीं।" सीतानाथ इत्यादि अन्य गृहस्थों के घर परदे की चाल नहीं थी, इस कारण वे इन गृहस्थों को अपने से हलके दर्जे का मानते। एक दिन किसी के पास दुर्गादास अपने यहाँ के परदे की बड़ाई कर रहे थे। इतने में गदाधर वहाँ सहज ही आ पहुँचा और उनकी बड़ाई सुनकर कहने लगा, "परदे से क्या कभी स्त्रियों की पवित्रता की रक्षा होती है ? अच्छी शिक्षा और देवभक्ति से ही यह रक्षा सम्भव है। यदि इरादा करूँ, तो आपके घर के परदे की सभी स्त्रियों को देख लूँ और उनकी सारी बातें जान लूँ।" दुर्गादास बड़े गर्व से बोले, "अच्छा, कैसे देखता है, देखूँ भला ?" गदाधर ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "किसी दिन समय आएगा तब देखूँगा।" और यह कह वहाँ से चला गया।

आज सन्ध्या हो चली है। एक किशोरी बगल में टोकनी लिये आश्रय की खोज में दुर्गादास पाईन के दरवाजे पर आ खड़ी होती है। उसका सिर साड़ी के पल्लू से ढका हुआ है। दुर्गादास ने किशोरी के वहाँ आने का अभिप्राय पूछा। वह बोली, "पास के गाँव से बाजार में दूसरी स्त्रियों के साथ सूत बेचने आयी थी, पर वे मुझे छोड़कर चली गयीं, इसलिए रात बिताने को जगह ढूँढ़ती हूँ। क्या

आप मुझे अपने यहाँ आज रात को रहने के लिए जगह देंगे ?" दुर्गादास ने उससे उसका नाम-गाँव पूछा तथा और भी दो-एक प्रश्न पूछकर कहा, "अच्छा, भीतर स्त्रियों के पास जाओ और वे जहाँ बताएँ वहीं रात भर रहो।" बड़ी कृतज्ञता से किशोरी ने दुर्गादास को प्रणाम किया और वह घर के भीतर गयी। वहाँ भी वही किस्सा बताकर उसने कहा, "आज की रात बिताने के लिए जगह दे दो।" इसके बाद तरह तरह की बातचीत और गपशप करके उसने उन सब स्त्रियों को मुग्ध कर डाला। वे स्त्रियाँ उसकी तरुण अवस्था और मधुर भाषण से मोहित हो गयीं और उन्होंने उसे रात को सोने के लिए एक कोठरी दे दी तथा कुछ फलाहार की सामग्री भी दी। उधर किशोरी भी सुभीते के साथ घर की सब बातें बारीकी से देखती रही।

रात काफी हो चुकी है। आज माता चन्द्रामणि चिन्तित हैं। जाने गदाधर कहाँ चला गया है, जो अभी तक नहीं लौटा। उन्होंने अपने मँझले पुत्र रामेश्वर से गदाधर को खोज लाने कहा। रामेश्वर उन सभी स्थानों को गये, जहाँ जहाँ गदाधर जाया करता, सीतानाथ पाईन के घर भी खोज की, पर उसका पता न चला। तब दुर्गादास के घर के पास खड़े हो उन्होंने दो-तीन बार गदाधर का नाम लेकर पुकारा। रामेश्वर के स्वर में चिन्ता थी। उनका स्वर दुर्गानाथ पाईन के घर और पड़ोस में गूँज गया।

इतने में एक बिजली कौंध गयी। दुर्गादास के घर के भीतर से कोई 'आता हूँ, भैया' चिल्लाते हुए दरवाजे की ओर दौड़ पड़ा। सबने आश्चर्य से देखा कि वह किशोरी और कोई नहीं, गदाधर ही था। दुर्गादास समझ गये कि यह गदाधर मुझे धोखा देकर परदे के भीतर प्रवेश कर गया था, और उन्हें अपने इस प्रकार छले जाने पर क्रोध बहुत आया, पर गदाधर का वह स्त्री-वेश, वह हाव-भाव, सम्भाषण और चाल-ढाल किस तरह हूबहू स्त्रियों के समान थी, यह सोचकर तथा इस लड़के ने मुझे अच्छा चकमा दिया, इस विचार से उन्हें बड़ी हँसी आने लगी। शीघ्र ही यह बात गाँव भर में फैल गयी और सब कहने लगे कि गदाधर ने दुर्गादास का घमण्ड अच्छा चूर किया।

●

"विचार दो प्रकार का होता है--अनुलोम और विलोम। जैसे केले के स्तम्भ का छिलका और उसके भीतर का गूदा। अथवा छिलके से गूदा और गूदे से छिलका। अर्थात्---छिलके आदि से सार वस्तु को और सार वस्तु से छिलके आदि असार वस्तु को पृथक् पृथक् देखना।"

—श्रीरामकृष्ण

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

श्री माँ की कितनी बेटियाँ कितना कष्ट सहकर जयरामवाटी आतीं। उनका इस प्रकार वहाँ आना देख लोग विस्मित हो सोचते--घर की चहारदीवारी मे रहनेवाली ये लोग कैसे इतनी दूर मानो भागी भागी आती हैं, न कोई डर, न कोई चिन्ता। माँ का खिचाव ही ऐसा था। माँ के पास जैसे उनके दो-एक शिष्य-बेटे रहते, उसी प्रकार दो-तीन बेटियाँ भी रहतीं--उनकी तीन भतीजियों के अलावे। उनके निकट रहने के कारण दैनन्दिन कर्मों के बीच भी सब सन्तानों का मन स्वाभाविक ही भगवद्भाव की उच्च भूमि में सदैव अवस्थान करता। हम लोग भगवान् और भगवद्-भजन को दैनिक जीवन से कुछ पृथक् ही रखना चाहते हैं, मानो हमारे जीवन-यापन के क्रम के साथ उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही न हो। इसीलिए कई बार भगवत्प्राप्ति की साधना हमारे लिए अस्वाभाविक प्रतीत होती है।

श्री माँ के जीवन की बात तो दूर रहे, उनके समीप आनेवाली शरणागत सन्तानों के जीवन में भी किसी प्रकार की अस्वाभाविकता दृष्टिगोचर नहीं होती थी। माँ के स्नेह-माधुर्य से सन्तानों के अन्त:करण में भी कार्यकुशलता, क्षमता, सत्यनिष्ठा, संयम, स्नेह-प्रीति, सेवापरायणता आदि के सद्‌गुण संचारित होते रहते। भगवान् में विश्वास और

उनका भजन जीव के प्राणधारण और श्वासप्रश्वास की नाईं सहज और स्वतःस्फूर्त है तथा जिस शक्ति के द्वारा संसार के सृष्टि-स्थिति-लय आदि समस्त व्यापार घटित हो रहे हैं, वह सर्वव्यापी ईश्वर——वे परम कारुणिक ठाकुर——भीतर और बाहर सदा सर्वत्र विराजमान हैं——यह विश्वास सन्तानों के हृदय में दृढ़ होता रहता। संसार भगवान् का ही है, अपने खेल के लिए उन्होंने रचा है. हम उनके हाथों की कठपुतली हैं, जब जहाँ रखें जैसा कराएँ, मन में सन्तोष रखते हुए वही किये जाओ; हम अपने अपने कर्मफल से दुःख-भोग करते हैं, इसके लिए दूसरे को दोषी ठहराना अनुचित है; हम सभी भाई भाई हैं, एक ही माता-पिता की सन्तान हैं, भगवान् में विश्वास, भक्ति-निष्ठा लेकर उनके शरणागत हो पड़े रहना, सद्वृत्तिपूर्वक जीवनयापन करना, यथाशक्ति दूसरों की सेवा करना, किसी को भी किसी प्रकार दुःख न देना;——ये सब उपदेश माँ अनजाने ही अपनी सन्तानों के हृदय पर अंकित कर देतीं। उन लोगों की क्षणभंगुर देह के प्रति आत्मबुद्धि और मोह उनकी कृपा से क्रमशः क्षीण होता रहता।

शायद दूसरों की देखादेखी किसी अशान्त लड़के के भीतर इच्छा जगती——"साधना करूँगा।" माँ उसे उपदेश देतीं, मीठी बाते कहकर समझातीं——"ठाकुर को पुकारो, उन पर निर्भर रहो, सब हो जायगा।" फिर उच्च पात्रता देखकर, शक्ति-सामर्थ्य देखकर वे विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार से उपदेश देतीं, किसी किसी की व्याकु-

लता देखकर सम्भवतः उस पर विशेष कृपा भी कर देतीं। पर यह सब कुछ अत्यन्त स्वाभाविक रूप से होता। संसार में, समाज में, मनुष्य-मनुष्य में, स्त्री-पुरुष में, धर्म-धर्म में, संन्यास-गार्हस्थ्य में, साधन-भजन और वैषयिक कर्मों म जो सब भेदबुद्धियाँ हैं, जो विषमता को उत्पन्न कर मानव-जीवन को दुःख-बोझिल और दुस्सह बना देती हैं, माँ उनको दूर कर विभिन्न अधिकारियों को स्नेहपूर्वक सामंजस्य और सह-अस्तित्व का पथ दिखा देतीं। कैसे सहज ढंग से वे सीख देतीं--"बेटा ! ठाकुर क्या अलग खण्ड हैं, वे ही तो अखण्ड वस्तु हैं। जगत् में ब्रह्म को छोड़ और कुछ नहीं है, सभी पदार्थ ब्रह्म के प्रकाश हैं, ब्रह्म की ही शक्ति समस्त देवी-देवताओं में विराजित है। वही पुरुष है, फिर वही प्रकृति। ठाकुर तोड़ने नहीं आये थे।" पात्रता देखकर लोगों को अलग अलग इष्ट का मंत्र देते हुए भी माँ अपनी जिज्ञासु सन्तानों को उपर्युक्त प्रकार से ठाकुर का ही चिन्तन करने का उपदेश देतीं। कोई नासमझ लड़का उन्हीं की पूजा-आराधना करने का हठ कर बैठा, तो वे समझा देतीं, "बेटा, भक्त लोग कहते हैं कि मेरे भीतर ठाकुर ही हैं।" बस, शिष्य का हृदय उत्फुल्ल हो उठा। उनके वरिष्ठ ज्ञानी लड़के अजान बालकों को माँ के शरणागत होने के लिए समझाते; वे लोग यदि समझना न चाहते, तो डाँटते हुए कहते, "माँ और ठाकुर क्या अलग अलग हैं ?"

यथाग्नेर्दाहिकाशक्तिः रामकृष्णे स्थिता हि या।
सर्वविद्यास्वरूपां तां सारदां प्रणमाम्यहम् ॥

--'जो अग्नि में दाहिकाशक्ति के समान रामकृष्ण में स्थित हैं, उन सर्वविद्यास्वरूपिणी सारदा को मैं प्रणाम करता हूँ।'

माँ के तो धनी-दरिद्र, विद्वान्-मूर्ख सभी प्रकार की सन्तानें हैं। कोई माँ को ब्रह्माण्डप्रसविनी महाशक्ति के रूप में प्रगाम करता है, उनकी स्तुति-वन्दना करता है, तो कोई यह सब कुछ नहीं जानता, केवल यही समझता है कि 'ये मेरी माँ है, इहकाल और परकाल में मेरी रक्षा करनेवाली हैं, इनकी कृपा से मुझे कोई चिन्ता-भय नहीं।' माँ का सभी सन्तानों के प्रति समान स्नेह-प्यार है। माँ समझती हैं कि जिसकी जैसी शक्ति है, वह उसी प्रकार उन्हीं को तो पुकार रहा है--'कोई कहे बा, कोई कहे पा'।

माँ के लिए बहुत से लोग यथासामर्थ्य काम की चीजें ले आते हैं। वे चीजें सामान्य होते हुए भी माँ बड़े हर्ष से ग्रहण करती हैं। और वे लानेवाले की कितनी प्रशंसा कर डालती हैं। वे कोई दिखावे का स्नेह नहीं करतीं, उनके शब्दों में किसी प्रकार की औपचारिकता नहीं होती, बल्कि सचमुच ही उनकी प्रसन्नता का अनुभव किया जा सकत है। भक्त आन्तरिकता के साथ जो भी देता, उस सामान्य वस्तु के प्रति उनका कितना लगाव होता। डहरकुण्ड गाँव में उनके कुछ गरीब किसान शिष्य रहते। एक बार वे अपने सुदूर स्थित गाँव से पैदल चलकर जयरामवाटी आये

और अपने सिर पर अपने खेत में उगायी सागसब्जियों का टोकरा लेते आये। माँ वह सब पाकर कितनी प्रसन्न हुईं! वे तो बेचारे निर्धन थे, दरिद्र की वेशभूषा में आये थे, विद्या-बुद्धि से हीन थे। उन्होंने वह सब सामान अत्यन्त संकोचपूर्वक माँ के पास रखा और एक कोने में खड़े रहे। माँ को लोग कितनी अच्छी अच्छी चीजें देते हैं! इसलिए उनके मन में संशय है कि माँ उनकी दी हुई इन सामान्य चीजों को ग्रहण करेंगी या नहीं। माँ ने बड़े स्नेह के साथ वह सब ग्रहण किया और हाथ लगाकर देखने लगीं। फिर स्नेहविगलित स्वर में प्रशंसा करते हुए कहने लगीं, "बेटे, तुम लोग कितनी दूर से यह बोझा सिर पर लेकर आ रहे हो! अहा! मेरे बटों ने मेरे लिए कितना कष्ट झेला!" साग-सब्जियों में एक पका हुआ बहुत बड़ा कुम्हड़ा था और एक बड़ा अरवी का कन्द। ये सब चीजें जयरामवाटी में नहीं मिलतीं। माँ बड़ी खुश हुईं। उन्होंने अपनी उन गरीब सन्तानों को परम स्नेहपूर्वक भोजन कराया, रात वहीं बिताने के लिए कहा। उन लोगों की मन की साध पूरी हुई।

एक दिन सुबह ही एक शिष्य एक टोकनी साग-सब्जी सिर पर लेकर जयरामवाटी उपस्थित हुआ। टोकनी उसने माँ के दरवाजे पर रख दी और प्रणाम किया। माँ उसी समय अपने नित्य क्रम के अनुसार आसन बिछाकर तरकारी काटने बैठी थीं। वे हर्ष से बड़ी उत्फुल्ल हो बोलीं, "बेटा, आज घर में विशेष कुछ नहीं था। हँसिया लेकर सोच रही

थी क्या काटूँगी । ऐसे समय तुम यह सब लेकर आ गये ! ठाकुर खुद अपनी जरूरत के अनुसार सारा प्रबन्ध कर लेते हैं ।'' भक्त का हृदय आनन्द से भर उठा, उसका परिश्रम सार्थक हुआ ।

माँ का वह मुसलमान बेटा--डाकू अमजद--बड़ा गरीब है । जीविका चलती नहीं इसलिए डाका डालता है । यह खूँखार डाकू एक बार मजदूर के रूप में माँ के पास आकर उनके स्नेह का स्वाद चख गया है । बीच बीच में आता है । माँ अपनी अन्य सन्तानों की तरह उसे भी अपना स्नेह देती हैं । अमजद के भी प्राणों की साध है कि माँ की सेवा करूँ, उन्हें कुछ दूँ, इसीलिए बीच बीच में साग-सब्जी जो भी जुटा पाता है, लेकर माँ के पास आ जाता है । यह सामान्य चीज लेकर माँ के पास जाते उसे अत्यन्त संकोच होता है। उसे माँ के चरणों में रखकर वह एक ओर चुपचाप खड़ा हो जाता है । माँ अत्यन्त स्नेह से वह ग्रहण करती हैं और कितनी प्रशंसा करती हैं । जब अमजद माँ के घर जाता, तो कितने डर और संकोच से जाता, सूखा चेहरा लिये जाता, मानो पैर मन-मन भर के हो गये हों; पर जब माँ का स्नेह-दुलार पाकर, खा-पीकर, मुँह में पान चबाते हुए बाहर निकलता, तो उसके चेहरे पर कितनी प्रसन्नता होती, उसका सीना कैसा तना हुआ होता ! कोआलपाड़ा के गरीब किसान-भक्त तथा जयराम-वाटी के कोई कोई लोग जब अपने खेत में पैदा हुई सामान्य चीजें लाकर माँ को देते, तो माँ कितने स्नेह के साथ वह

सब ग्रहण करतीं और बदले में देतीं अनुपम दुलार के साथ कोई न कोई चीज, प्रसादी फल-मिठाई आदि ।

माँ मूल्यवान् चीजों या फल-मिठाई की अपेक्षा दैनिक व्यवहार में आनेवाली चीजें अधिक पसन्द करतीं । कोआलपाड़ा के केशवानन्द महाराज भक्तों को निर्देश देते कि उन्हें यदि कुछ देना ही है तो रोजमर्रा के काम में आनेवाली चीजें वे माँ को दें । एक बार ऐसा निर्देश पाकर बरीसाल से आया हुआ एक शिष्य मिट्टी तेल का एक पीपा ले आया । माँ यह देख कितनी प्रसन्न हुईं ! बेटों के हृदय में उठनेवाली सेवा की कामना माँ सदैव पूर्ण करतीं । वे तो नाना प्रकार की वस्तुएँ लाते और माँ, अपनी कोई आवश्यकता न होते हुए भी, उन लोगों की तृप्ति और कल्याण के लिए ही वह सब ग्रहण करतीं । भक्त साड़ियाँ बहुत देते । माँ की साड़ी की आवश्यकता कम थी, क्योंकि वे जो साड़ियाँ पहनतीं, सावधानीपूर्वक पहनतीं, चलते तक चलातीं, साड़ी थोड़ी फट भी जाय, तो सिलकर पहनतीं । कई बार भक्तों द्वारा लाये गये वस्त्र वे देह में लपेट लेतीं अथवा स्पर्श करके उन्हें प्रसादी बना देतीं तथा अपनी दूसरी सन्तानों को अथवा आवश्यकतानुसार गरीब-दुःखी को वह सब दे देतीं । फल-मिठाई भी ठाकुर को निवेदन करके दूसरों को बाँट देतीं, बस अपनी जीभ के अगले छोर से उसका स्पर्श मात्र कर लेतीं । खाने-पहनने में उनका व्यवहार सदैव अत्यन्त संकोची और संयत होता ।

कोई भक्त माँ के प्रसाद के लिए बड़ा आग्रहवान् है ।

माँ ने एक सन्देश हाथ में लिया और ठाकुर को दृष्टिभोग दे अपनी जीभ से उसे छू दिया; फिर भक्त को देते हुए स्नेहपूर्वक कहतीं, "लो बेटा, प्रसाद खा लो!"

एक भक्त ठाकुर-माँ के जन्मस्थानों के दर्शन कर कलकत्ता लौट रहा है। माँ तब 'उद्बोधन' (कलकत्ते) में थीं। नवासन के भक्तों ने उस भक्त के हाथ 'भावदिघि' नामक स्थान को कुछ मूलियाँ दी हैं। माँ को ये मूलियाँ बड़ी पसन्द हैं--कड़ी मिट्टी की मीठी मूलियाँ। वे जब जयरामवाटी में रहतीं, तो भक्त उन्हें ये मूलियाँ दे आया करते। पर अबकी बार माँ देश में नहीं हैं, इसलिए मूलियाँ देने का सौभाग्य इस बार नहीं घटेगा यह सोचकर वे बड़े दुःखित हैं। अब जब सुना कि एक भक्त कलकत्ता लौट रहा है, तो परिश्रम करके कुछ मूलियाँ इकट्ठी कीं, क्योंकि मूली का समय अभी आया नहीं है--अभी मूली पुष्ट नहीं हुई है। बहुत खोज-पड़ताल करने पर मध्यम दर्जे की कुछ मूलियाँ मिल सकी हैं। वह यत्नपूर्वक बाँधकर भक्त को दे दिया। भक्त आरामबाग होकर चापाडांगा जाकर मार्टिन की गाड़ी पकड़ेगा। कलकत्ते से आते समय माँ ने कह दिया था कि बहू (मणिबाबू की माँ) के साथ मिलते जाना। इसीलिए भक्त आरामबाग से वायुग्राम जाकर मणिबाबू के घर गया। मणिबाबू की माँ के हर्ष का ठिकाना न था, विशेषकर जब उन्होंने सुना कि माँ ने 'उन्हें देख जाने' कहा है। उन्होंने कई प्रकार के व्यंजन बनाकर भक्त को खिलाये और अनुरोध करके एक रात वहीं बिताकर जाने को कहा,

जिससे वे माँ के लिए एक खाने की चीज बनाकर दे सकें, क्योंकि वह चीज माँ को बहुत पसन्द थी । मणिबाबू की माँ ने सुना कि अभी माँ का स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं है और वे वातरोग से कष्ट पा रही हैं। यह सुन उन्हें देखने के लिए मणिबाबू की माँ के प्राण छटपटाने लगे। पर अभी तो जाने का कोई उपाय न था, लड़की अस्वस्थ थी। इसीलिए वे भक्त के हाथ माँ के लिए कुछ भेजना चाहती थीं। माँ के लिए कोई चीज ले जाना तो परम सौभाग्य की बात है। भक्त ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसने अपने पूर्वपरिचित मित्र मणिबाबू के साथ ठाकुर-माँ की चर्चा करते हुए रात वहीं बितायी और दूसरे दिन सुब कलकत्ते के लिए चल पड़ा। चलते समय मणिबाबू की माँ ने उसे सावधानी से बाँधा हुआ एक बिस्कुट का टिन दिया। भक्त सन्ध्या समय उद्बोधन पहुँचा। जाकर देखा--माँ बिछौने में लेटी हुई हैं, वातरोग से कष्ट पा रही हैं और सेविका दवा की मालिश कर रही है। माँ भक्त को देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं, वे उठ बैठीं। कुशल-प्रश्न पूछे। भक्त ने उत्तर में जयरामवाटी, कामारपुकर और अन्यान्य स्थानों के भक्तों के कुशल-समाचार दिये और उनके प्रणाम निवेदित कर मूलियों का बंडल और बिस्कुट का टिन माँ के हाथ में दिया। मूलियाँ देखकर माँ का आनन्द कैसा! मानो बड़ी दुर्लभ चीज हो! फिर छोटी बालिका के समान आनन्द से अधीर हो उन्होंने टिन को खोला--और देखकर क्या आनन्द! माँ का ऐसा आनन्द देख भक्त को कौतूहल

हुआ कि टिन में क्या है। जब देखा तो मालूम पड़ा कि वह बहुमूल्य वस्तु है 'तला चावल' !

और एक समय की बात है। तब भी माँ 'उद्बोधन' में थीं। कामारपुकुर से लौटते समय भक्त ठाकुर के अपने हाथ से लगाये पेड़ के कुछ आम और कोआलपाड़ा आश्रम से कुछ परवल लेकर माँ के पास पहुँचा। ये सब चीजें पाकर माँ परम प्रसन्न हुईं। आम अधपके थे। उनका पना बनाकर ठाकुर को भोग दिया गया। उस समय भक्त विष्णु-पुर में स्व० सुरेश्वरबाबू के घर होता गया था। वहाँ के भक्तों ने भोजन के काम में आने के लिए साल के पत्ते दिये थे। विष्णुपुर के सालपत्ते बड़े अच्छे होते हैं, उड़द की पतली दाल भी उसमें से गिरती नहीं, इसीलिए माँ को पसन्द है। भक्तों द्वारा दी गयी चीजें पाकर माँ ऐसी प्रसन्न हैं, जैसे कोई शिशु खिलौने या मोदक पाकर होता है ! बहुतों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था कि इन सब तुच्छ चीजों को पाकर वे कितनी सन्तुष्ट होती थीं और दूसरी ओर कितनी मूल्यवान् चीजें आती थीं, पर माँ की उधर दृष्टि ही नहीं जाती थी। माँ कहतीं भी, "चीजों के दाम में भला क्या रखा है ! जो देता है, उसके अन्तर का खिंचाव, उसकी भक्ति ही देखनी चाहिए।"

(क्रमशः)

●

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

नाम माहात्म्य

नाम नाम नाम, केवल नाम जपो। खूब कर्म करो और नाम जपो। सब कर्मों के भीतर उनका नाम जपो तो सही। इस नाम का पहिया सभी कर्मों के बीच चले, तब तो होगा? करके देखो, एकदम सारे ताप शान्त हो जाएँगे। कितने ही महापातकी इस नाम का आश्रय ले शुद्ध-मुक्त-आत्मा हो गये।

खूब विश्वास करो——नाम और भगवान् पर। नाम और नामी एक कर डालो। भगवान् ही नाम के रूप में भक्त के हृदय में निवास करते हैं।

भगवान् को खूब पुकारते रहो। निर्जन में अकेले बैठकर उन्हें पुकारना चाहिए। और बीच बीच में प्रार्थना करो——'मुझ पर कृपा करो, मुझे श्रद्धा-भक्ति दो।' इतनी आन्तरिकता से पुकारो कि आँसुओं की धार बहने लगे। मन और मुख एक करना होगा।

संसार की सभी वस्तुओं को हरि-मय देखना——सोचना मेरे हरि सर्व भूतों में विराजमान हैं। ऐसा करते करते ही 'तृणादपि सुनीच' हो जाओगे। सबके पास बैठना, पर सुनना केवल हरिकथा। यह जानना कि जिस स्थान में हरिगुणानुकीर्तन नहीं होता, वह स्थान श्मशान के समान है।

इस हरिनाम के प्रताप से श्मशान के भूत तक भाग जाते हैं।

उनका नाम जपो, उन्हें पुकारो। वे तो अपने ही हैं। वे दर्शन क्यों नहीं देंगे ? उनके पास सब बतलाओ, वे सही रास्ता दिखा देंगे। जिद करनी है तो उनके पास करो। वे सब पूर्ण कर देंगे।

दीक्षा और क्या है ? तुम्हें जिस नाम में रुचि है, तुम वही नाम जपना। विश्वास रखकर मन की इच्छानुसार नाम करने से ही हुआ। केवल दीक्षा ले लेने से नहीं बनेगा--ध्यान-धारणा करनी होगी, उन्हें हृदय से पुकारना होगा। उन पर और भी विश्वास हो, प्रेम हो, इसलिए एक को मानते हुए काम करना चाहिए। अभी खूब ध्यान करो।

पहली अवस्था में प्रार्थना करना अच्छा है। उन्हें पुकारना, उनका महिमा-कीर्तन करके उनसे प्रार्थना करना।

भगवान् को पुकारना और कहना, "हे भगवन्, ये चन्द्र सूर्य तुम्हारे हैं, यह सृष्टि तुम्हारी है। तुम दयामय, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी हो, तुम मेरे प्रति दयावान् होओ, मुझे सद्बुद्धि दो, श्रद्धा दो, भक्ति दो, प्रेम दो"--यह कहते हुए उन्हें पुकारना।

चाहे हजारों काम रहे या जो भी हो, प्रतिदिन दोनों समय उनका स्मरण-मनन करना न भूलना। देह-मन को शुद्ध करने के लिए, शरीर को निर्मल और निष्पाप करने के लिए उनके नाम का जप और ध्यान-भजन छोड़

दूसरा कोई उपाय नहीं है। वे बड़े सहज हैं, एकदम अपने हैं। उन्हें अपना बना डालो--उन्हीं के हो जाओ। प्रिय वस्तु यदि दुर्लभ है, तो वे परमप्रिय हैं।

नाम जपो, नाम सुनो। नाम ही भगवान् है। नाम न ले जो भी करोगे, गोरखधन्धे में भटकते फिरोगे।

साधन-भजन

बड़ी निष्ठासहित साधन-भजन करते जाओ। एक दिन भी नागा मत करना--चाहे अच्छा लगे या न लगे, नियमित समय पर आसन लगाकर बैठना। यदि ऐसी निष्ठा के साथ कम से कम तीन वर्ष भी कर सको, तो देखोगे कि भगवान् पर प्रेम आएगा। तब आप ही आप भगवान् को पुकारने की इच्छा होगी, प्रयत्न करके भी मन को दूसरी ओर नहीं ले जा सकोगे। जब मन की ऐसी अवस्था होगी, तब जप-ध्यान करके खूब आनन्द पाओगे।

साधन-भजन करो, साधन-भजन करो। भजन करने से एक तरह का आनन्द मिलता है। उस आनन्द का स्वाद एक बार मिलने से यह सब फीका मालूम पड़ेगा। तब जहाँ भी रहो, जिस अवस्था में रहो, साधन-भजन के सिवाय और कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। पर हाँ, यह सही है कि पहले-पहल आनन्द नहीं मिलता। गुरुवाक्य में विश्वास कर कुछ दिन करते रहने पर देखोगे कि आप ही आप आनन्द आने लगा है।

जो लोग साधन-भजन करते हैं, सभी अवस्थाओं में

करते हैं। जहाँ सुअवसर-सुविधा अधिक होती है, वहाँ वे और भी जोरों से साधन-भजन करते हैं। यहाँ सुविधा नहीं हो रही है, वहाँ सुविधा नहीं हो रही है, यह कहकर जो लोग सिर्फ घूमते रहते हैं, वे कभी भी कुछ नहीं कर पाते——vagabond (आवारा) के समान घूम-घूमकर सिर्फ समय नष्ट करते हैं।

खूब जप करो, बच्चे, खूब जप करो। कलियुग में याग-यज्ञ करना बहुत कठिन है। जप करते करते मन स्थिर होकर इष्ट में लीन हो जायगा। जप के साथ ही साथ इष्टमूर्ति का चिन्तन करना चाहिए। उससे जप-ध्यान दोनों एक साथ हो जाते हैं। इस तरह से जप करने से अति शीघ्र काम हो जाता है।

हमेशा स्मरण-मनन करना होगा। जप-ध्यान करने के लिए सुयोग-सुविधाएँ ढूँढ़ लेनी पड़ती हैं, किन्तु स्मरण मनन करने के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रहती। खाते-सोते, उठते-बैठते सब समय स्मरण हो सकता है। यदि दिन-रात स्मरण-मनन कर सको, तो जानना कि मन बहुत ऊँचा उठ गया है। रामानुज के मत के अनुसार इस लगातार चिन्तन का नाम ही ध्यान है।

हम लोगों के experience (अनुभव) से तो सीखोगे नहीं——बच्चा, घूमने से कुछ भी नहीं होता। एक स्थान में स्थिर हो बैठकर कुछ समय तक उन्हें पुकारे विना कुछ भी नहीं होता। स्वामीजी इतना सुन्दर मठ बना गये हैं। खाने-पहनने की कोई चिन्ता नहीं। दो मुट्ठी खाओ और

साधन-भजन लेकर पड़े रहो--ऐसा न कर सिर्फ vagabondising (आवारागर्दी) करते हुए घूमने से क्या होगा ? तुम लोग शायद सोच रहे हो कि कुछ दिन बाहर घूमकर 'कृष्ण-विष्ण' बनकर आओगे। सो क्या कभी होता है रे ! ढोंग-धतूरे से धर्म नहीं होता। यदि उन्हें पाना हो तो साधन-सागर में डूबना होगा, एकदम गहरे चले जाना होगा। साधन नहीं, भजन नहीं, सिर्फ गेरुआ पहनकर घूमने से और भिक्षा करके खाने से क्या होगा ?

काम को जीतूंगा, क्रोध को जीतूंगा, यह कहकर चेष्टा करने से रिपुओं को वश में नहीं लाया जा सकता। भगवान् में मन लगाने से वे सब आप ही आप कम हो जाते हैं। ठाकुर कहते थे, 'पूर्व की ओर चलने से पश्चिम आप ही आप पीछे रह जाता है, कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती।' उन्हें पुकारो, उन्हें पुकारने से रिपु आदि जाने कहाँ भाग जाएँगे।

तुम लोग जप-ध्यान उथला उथला ही करते हो। वह क्या सिर्फ दो-एक घण्टे करने का काम है रे ! दिन-रात चौबीसों घण्टे उनका भाव लेकर रहने से तब कहीं होगा। यही तुम लोगों का समय है। अरे, डूब जाओ, डूब जाओ। समय और नष्ट मत करो। अर्धरात्रि में खूब जप-ध्यान करना चाहिए। यह समय जप-ध्यान के लिए बहुत अनुकूल है।

पहली अवस्था में धीरे धीरे जप-ध्यान बढ़ाना चाहिए। आज एक घण्टा किया, दो दिन बाद और कुछ

समय बढ़ाया, फिर कुछ दिन बाद और भी कुछ समय बढ़ाया—इस तरह धीरे धीरे बढ़ाते जाना होगा। क्षणिक भावोच्छ्वास के कारण उत्तेजित होकर जप-ध्यान करने से reaction (प्रतिक्रिया) सँभाली नहीं जा सकती। Reaction (प्रतिक्रिया) सँभाल न सकने से मन बहुत नीचे चला जाता है। तब फिर जप-ध्यान करने की बिल्कुल इच्छा नहीं होती। उस मन को ऊपर उठाकर फिर से जप-ध्यान में लगाना बहुत ही कठिन है।

उनकी कृपा चाहिए। उनकी कृपा हुए बिना कुछ नहीं होता। कृपा के लिए दिन-रात उनके पास प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना से बहुत काम हो जाता है। वे खूब सुनते हैं। साधन-भजन का अभ्यास करना चाहिए। जिस दिन जैसा अच्छा लगे, उस दिन वैसा ही करना। पाँच मिनट हो, यह भी अच्छा है, किन्तु नियमित समय पर अवश्य करना चाहिए। रात ही ध्यान करने का उत्तम समय है—दिमाग साफ रहता है। ज्यादा समय तक ध्यान-धारणा करने से भी कोई हानि नहीं होती। फिर इस समय प्रकृति की भी सहायता मिलती है। ध्यान नीरव में ही करना अच्छा है। इसीलिए रात में ध्यान करना अच्छा है।

कर्म

बड़े बड़े कर्म करना सहज है, बहुत से लोग कर सकते हैं। नाम-यश के लिए अक्सर बहुत बड़े बड़े कर्म किये जा सकते हैं। पर छोटे छोटे कर्म के भीतर ही मनुष्य को समझा जा सकता है कि उसका चरित्र कहाँ तक गठित

हुआ है। जो लोग ठीक ठीक कर्मयोगी हैं, वे तुच्छ कर्म को भी भगवद्‌बुद्धि से मन-प्राण लगाकर करते हैं। लोगों की 'वाह, वाह' सुनने के लिए वे कभी कुछ नहीं करते।

मन के अनुकूल काम होने पर सभी लोग कर सकते हैं। ऐसा होने से क्या काम करना चलता है, बच्चा? जो भी काम क्यों न हो, जैसा भी काम क्यों न आए, ठाकुर का काम है यह जानकर सभी कामों में खुद को adjust (व्यवस्थित) कर लेना चाहिए।

सिर्फ कर्म करने से नहीं होगा। भगवद्‌भाव का आश्रय ले कर्म करना होगा। बारह आने मन भगवान् पर लगा रखना होगा और बाकी चार आने मन से कर्म करने होंगे। इस भाव के अनुसार यदि चल सको तो ठीक ठीक काम कर सकोगे, मन में उदारता आएगी, आनन्द आएगा। और साधन-भजन छोड़कर कर्म करने से स्वाभाविक ही अहंकार-अभिमान आएगा, लड़ाई-झगा होगड़ा, अशान्ति पैदा होगी। कर्म करो या जो भी करो, साधन-भजन मत छोड़ना।

शीशी फोड़ डाली? कैसा कुलक्षण स्वभाव है! कितने उथले मन से तुम लोग काम करते हो! काम करते करते इतना क्या सोचते हो? इतने अस्थिर मन से कुछ भी काम नहीं होता—न धर्म, न कर्म। मन स्थिर करके सब काम करने चाहिए—चाहे वह बड़ा काम हो या छोटा। यह जानना कि जिन लोगों का मन काम में स्थिर होता है, उनका मन जप-ध्यान में भी स्थिर होता है।

कर्म करते समय प्रथमतः कर्म पर खूब प्रीति चाहिए; द्वितीयतः, फल की ओर दृष्टि बिल्कुल नहीं रहनी चाहिए। तभी ठीक ठीक कर्म किया जा सकता है। यही कर्मयोग का secret (रहस्य) है। जो कुछ भी करोगे, यह समझना कि सब ठाकुर का काम है। ऐसा होने से कर्म के प्रति कभी अरुचि नहीं होगी, और फल पर भी आसक्ति नहीं आएगी। यह भाव छोड़ देने से प्रारम्भ ही अकारथ हो जाता है; फिर काम ही क्या करोगे, और धर्म ही क्या साधोगे !

काम करने में इतना डरते क्यों हो ? (पूजनीय स्वामी प्रेमानन्द महाराज को दिखाकर) ये लोग जो कहेंगे, करना। इससे तुम लोगों का महाकल्याण होगा, जानना। ये सब महापुरुष हैं। इन लोगों की बात नहीं सुनने से धर्म-कर्म कुछ भी नहीं होगा, बच्चे। जैसा कहते हैं, करते जाओ।

सभी काम काम हैं। साधन-भजन भी कर्म है और संसार-पालन भी। ठीक ठीक कर सकने से ही हुआ। सभी भगवान् के प्रार्थना-स्वरूप हैं--work is worship।

गीता में कर्म का उल्लेख है—इस कर्म के द्वारा ही लोग मुक्त होंगे, निर्वाण लाभ करेंगे। कर्म बहुत ही कठिन है। Cool brain (ठण्डा दिमाग) और त्याग-वैराग्य की अत्यन्त आवश्यकता है। यह नहीं होने पर उसमें (कर्म में) लिप्त हो जाना पड़ता है। असल में सिद्धि-लाभ के बाद ही मनुष्य कर्म का अधिकारी होता है।

साधक के कर्तव्य

बाहर तपस्या करने जाने पर छत्र का अन्न नहीं खाना चाहिए। गृहस्थ लोग साधु-सेवा के लिए सब श्राद्ध की रकम दे जाते हैं। इसके सिवाय कितनी वासना-कामना के साथ रकम देते हैं। इन्हीं कारणों से छत्र का अन्न शुद्ध नहीं होता। मधुकरी करके खाना अच्छा है। मधुकरी का अन्न बड़ा शुद्ध होता है।

निर्जन में अकेले जाकर साधन-भजन करना बड़ा कठिन है। भगवान् पर अत्यन्त प्रीति और अनुराग रहे, तो हो सकता है। पहले-पहल अकेले रहने से पतन की बड़ी आशंका रहती है। इसीलिए समान विचारवाले दो लोगों को एक साथ रहना चाहिए। दो लोग एक साथ रहें, तो आपस में एक-दूसरे की सहायता होती है। और यदि दो से अधिक एक साथ रहें, तो गपशप होती है।

गप लड़ाना साधन-भजन के लिए बड़ा विघ्नकारक है। वह मन को बड़ा चंचल कर देता है, भगवान् को भुला देता है।

साधन-भजन करना हो, तो खाना-पीना कम कर देना चाहिए। भरपेट खाने से जप-ध्यान नहीं होता। हजम करने में ही सारी energy (शक्ति) समाप्त हो जाती है, मन बड़ा चंचल हो जाता है। इसीलिए गीता में 'युक्ताहार-विहार' की बात कही गयी है।

भोग-वोग की तरफ अभी अधिक नजर मत देना। अभी जरा कठोर होकर रहो। अभी सब विषयों में तुम लोगों

को बड़ा संयत होना होगा। ठाकुर की कृपा से यदि बचे रहोगे, तो बाद में आप ही कितनी वस्तुएँ आएँगी। तब देखोगे कि किसी वस्तु को पाने की इच्छा भी नहीं रहेगी, किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं होगी।

सब छोड़-छाड़कर, साधु होकर, हुकुमगिरी करना कितनी हीनबुद्धि की बात है। साधु के लिए कर्तृत्वाभिमान महा बन्धन का कारण है। जो कुछ भी करो, यह समझना कि ठाकुर का ही काम है; जो कुछ भी देख रहे हो, जानना कि सब ठाकुर का ही है। "अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।" झूठ बोलना महापाप है। यदि कोई शराब पिये, वेश्या के घर जाय, उसका विश्वास किया जा सकता है। किन्तु जो झूठ बोलता है, उसका बिल्कुल विश्वास नहीं किया जा सकता। झूठ बोलने के समान महापाप दुनिया में और कुछ भी नहीं है।

कभी भी परनिन्दा, परचर्चा मत करना। उससे खुद की हानि होती है। दिन-रात दूसरों के कुभावों की चर्चा करते रहने से खुद के भीतर जो कुछ सद्भावनाएँ रहती हैं, नष्ट हो जाती हैं और मन पर इन सब कुभावों की छाप पड़ जाती है।

खाओ, पीओ, आनन्द करो, मजा करो। किसमें क्या दोष है देखने की क्या आवश्यकता? सभी के साथ मिलना, आनन्द करना। ऐसा न कर, साधु होकर, इसने ऐसा किया, उसने वैसा किया, पाँच लोग मिलकर ऐसी जल्पना करते रहो और लोगों के पीछे लगते रहो, तो

बहुत ही खराब बात है। यह घोर हीनबुद्धि की निशानी है।

कौन क्या कर रहा है, किसका क्या हुआ——यह सब देखने या सोचने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम स्वयं ठीक रास्ते पर बढ़े चलो। लक्ष्य ठीक रखकर अपने गन्तव्य पथ पर बढ़ते जाओ।

सब समय मनुष्य के गुण देखना सीखो। थोड़ासा भी गुण रहे तो उसे बड़ा करके देखना सीखो, सन्मान देना सीखो, प्रशंसा करना सीखो। गुण का आदर किये बिना मनुष्य बड़ा नहीं हो सकता, स्वयं का मन भी उदार नहीं हो पाता।

बैठे बैठे गृहस्थों का अन्न खाना पर साधन-भजन नहीं करना साधु के लिए पाखण्ड है। साधु सब छोड़-छाड़कर भजन करेगा, यह समझकर गृहस्थ उसे दो मुट्ठी खाने के लिए देता है। साधन-भजन न कर गृहस्थ का अन्न खाने से महा अकल्याण होता है। गृहस्थ के पास से कुछ भी भिक्षा ग्रहण करने पर साधु के शुभ कर्मों के फल का कुछ अंश उसे मिलता है। इसलिए साधु को इस तरह साधन-भजन करना चाहिए कि खर्च होने के बाद भी बचा रहे।

मनुष्य का दोष देखकर उसे हीन नहीं समझना चाहिए। उसे प्रेम देकर, अपनाकर अच्छे रास्ते पर ले जाना चाहिए। अच्छा-बुरा तो सभी के भीतर है। दोष तो सभी लोग देख सकते हैं, पर मनुष्य का भला कर सको तो समझूँगा तुममें सामर्थ्य है।

देखो, बच्चे, तुम लोग साधु-संन्यासी हो। तुम लोगों को सब समय स्थिर, धीर, विनयी और मिष्टभाषी होना होगा। तुम लोगों की बातचीत, चालचलन, सब बातों के भीतर सत्त्वगुण का विकास होना चाहिए। तुम लोगों के सम्पर्क में आकर मनुष्य शान्ति पाएँगे एवं उन लोगों के हृदय में धर्मभाव जाग उठेगा।

ब्रह्मचर्य क्या है, जानते हो? सत्य बोलना, जितेन्द्रिय होना, मन और वचन का संयम करना, शराब नहीं पीना, मांस नहीं खाना, हिंसा-द्वेष और घृणा नहीं करना। जो बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन कर ले, उसे फिर क्या चिन्ता? ब्रह्मचर्य चाहिए। इसलिए बचपन से ही ब्रह्मचर्य पालन करने का नियम है।

थोड़ा बाहर--तीर्थस्थान में जाकर कुछ समय निवास करो, कई प्रकार से सुविधाएँ हो जाएँगी। प्रकृति का एक नया दृश्य देखकर मन की अवस्था बड़ी अच्छी रहेगी, शरीर भी स्वस्थ रहेगा और ध्यान की भी सुविधा होगी।

चित्त शुद्ध होना चाहिए। संसार में कितना भय है। साधन-पथ में जाने से बस युद्ध ही युद्ध है। मन म कितनी वासनाएँ हैं, उन सबका दमन करो। पग-पग पर वासना के दमन की चेष्टा करनी होगी, जिससे वह तुम्हें जकड़ न ले। पहले कुछ दिन निर्जन चाहिए--मन की दृढ़ता चाहिए। बाद में धीरे धीरे सब होता रहता है।

●

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—

बलराम बोस

स्वामी प्रमानन्द

बलराम बोस (१८४२-१८९०) एक भक्त और धनी वैष्णव-परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता राधारमण बोस अपना अधिकांश समय भगवन्नाम-जप में बिताया करते। उड़ीसा में उनकी अच्छी खासी सम्पत्ति थी। उन्होंने कोठार, वृन्दावन और अन्य स्थानों में राधाकृष्ण के मन्दिर निर्मित किये थे, तथा साथ ही निःशुल्क अतिथिशालाओं की भी स्थापना की थी। बलराम ने विरासत में अपने पिता से उनकी ईश्वर के प्रति भक्ति तथा सांसारिक जीवन के प्रति विरक्ति प्राप्त की थी। उन्होंने अपनी जमींदारी तथा अन्य जायदाद की देखरेख का भार अपने चचेरे भाइयों को दे दिया था और वे लोग उन्हें महीने के महीने जो दे देते, उसी में वे सन्तुष्ट रहते। श्रीरामकृष्ण से भेंट होने से पूर्व वे पुरी में रहते थे। वहाँ वे ग्यारह वर्ष से भी अधिक रहे और अपनी पत्नी एवं बच्चों के प्रति जिम्मेदारी के बावजूद वे अपना समय भगवन्नाम-जप और साधु-संग में बिताते तथा रोज श्री जगन्नाथ के दर्शन करने जाते। उनके पिता और चचेरे भाईगण इससे बड़े आशंकित हो गये कि बलराम कहीं सांसारिक जीवन का त्याग न कर दें और वे बलराम पर जोर डालने लगे कि वे कलकत्ते के ५७, रामकान्त बसु स्ट्रीट पर स्थित मकान में आकर रहें, जिसे उनके चचेरे भाई हरिवल्लभ ने खरीदा था।

इसमें संशय नहीं कि साधु-संग एवं जगन्नाथ-मन्दिर के रोज के दर्शन से वंचित होने के विचार ने बलराम के मन में खिन्नता पैदा कर दी। फिर भी उन्होंने प्रस्ताव मान्य कर लिया, क्योंकि वह उनकी तत्कालीन मन:स्थिति के अनुकूल था। पुरी में रहते समय उन्होंने केशव चन्द्र सेन द्वारा संचालित पत्रिकाओं में रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में पढ़ा था और उनके मन में उनके दर्शन करने की इच्छा जगी थी। उन्होंने एक युवा ब्राह्मण रामदयाल को इस सम्बन्ध में पत्र लिखा था, जिसका उत्तर उन्हें दस हफ्तों बाद मिला। रामदयाल कलकत्ते में बोसों के निवास में ही रहता। उसने श्रीरामकृष्ण के कई बार दर्शन किये थे। रामदयाल ने दक्षिणेश्वर के सन्त का अपनी लेखनी से जो चित्र खींचा, उसने बलराम को इतना मुग्ध किया कि उन्होंने तुरत उसके शीघ्र सन्त के दर्शन हेतु आने के प्रस्ताव को मान लिया। वे जल्दी ही कलकत्ता आये और दूसरे ही दिन दक्षिणेश्वर गये। लगता है कि वे अल्प समय बिताकर पुरी लौटने का विचार रखते थे। पर वे लौटे नहीं, या यों कहें, वे लौट सके नहीं। पर वह तो उस कथा का अगला हिस्सा है, जिसका प्रारम्भ हम यहाँ लिपिबद्ध कर रहे हैं।

बहुत करके वह १८८१ ई. की पहली जनवरी थी।[१]

१. यदि हम श्रीरामकृष्ण और केशव के वार्तालाप को बारीकी से देखें, जो 'श्रीश्रीरामकृष्ण पुँथि (बँगला, अक्षय कुमार सेन कृत,

बलराम रामदयाल के साथ दक्षिणेश्वर रवाना हुए। वहाँ पहुँचते अपराह्न बीत चला था। श्रीरामकृष्ण को पहचानना कठिन न था, क्योंकि वे उस दिन केशव चन्द्र सेन और अनेक ब्राह्म भक्तों के आतिथ्य-सत्कार में लगे थे।

केशव लगभग चार बजे अपराह्न वहाँ पहुँचे थे। एक कीर्तन का आयोजन किया गया था। केशव और अन्य लोगों ने उसमें भाग लिया। निस्सन्दिग्ध रूप से श्रीरामकृष्ण ही आकर्षण के केन्द्र थे। यह दल पंचवटी से चलकर श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर आने लगा। हृदय ने सिंगी बजाया, गोपीदास ने खोल (एक प्रकार का ढोल) और दो भक्तों ने मजीरा। श्रीरामकृष्ण सिंह-बल से नृत्य कर रहे थे, फिर वे समाधि में निमग्न हो गये। बाह्य चेतना लौटने पर वे अपने कमरे में बैठे और केशव तथा अन्य लोगों से वार्तालाप करने लगे। श्रोतागण एकाग्र चित्त से श्रीरामकृष्ण की वाणी सुनने लगे—"बालक की तरह ईश्वर के लिए रोना (चाहिए)। यही है व्याकुलता! फिर खेल, खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यह व्याकुलता

---

५ वाँ संस्करण, पृष्ठ २७३) में लिपिबद्ध है, तो हमें 'म' रचित 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' (भाग ३, तीसरा संस्करण, पृष्ठ ५६२) मे १ जनवरी १८८१ को घटित घटना के वर्णन में बड़ी समानता दिखायी देती है, विशेषकर 'मछुई फूल के बगीचे में' वाले चुटकुले में। यदि हम 'पुँथि' और 'वचनामृत' की इन रपटों को प्रामाणिक मानें, तो यह बिना किसी अड़चन के स्वीकार किया जा सकता है कि बलराम की पहली मुलाकात १ जनवरी १८८१ को हुई थी।

तथा उनके लिए रोना, भोग के क्षय होने पर होता है।''[२]

लगभग इसी समय, या शायद इससे कुछ ही पहले, बलराम और उनका साथी श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट हुए थे। गोधूलि वेला थी। कमरा खचाखच भरा हुआ था और कुछ लोग बाहर खड़े थे। बलराम ने श्रीरामकृष्ण को झुककर प्रणाम किया और चरणों की धूलि ली। श्रीरामकृष्ण ने प्रति-अभिवादन किया। बलराम रंग से गोरे थे और डील-डौल में मँझोले। उनके दाढ़ी थी। वस्त्र तो उन्होंने बंगाली की तरह पहने थे, पर उनके सिर पर सिक्खों की तरह की एक सफेद पगड़ी बँधी थी। वे लगभग ३९ वर्ष के थे। उनकी अति विनम्रता, मधुर व्यवहार और हँसमुख चेहरा उनके हृदय के बहुमूल्य गुणों को प्रकट कर रहे थे। जैसा कि उनका स्वभाव था,[३] वे कमरे के एक कोने में चुपचाप बैठ गये। यह बहुत सम्भव है कि उचित अवसर देख रामदयाल ने श्रीरामकृष्ण से बलराम का परिचय कराया होगा।

श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त उन्हें जगन्माता द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति के रूप में पहचान लिया, जो उनका अन्तरंग भक्त होनेवाला था और जिसके आगमन की वे बहुत दिनों से

---

२. श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग ३, पृ. ५६१।

३. 'वचनामृत' (भाग १, चौथा संस्करण, पृ. ३०) में 'म' ने बलराम का चित्र खींचते हुए लिखा है--"अब भक्तगण बरामदे में बैठे प्रसाद पा रहे हैं। दासवत् बलराम खड़े हैं। देखने से समझा नहीं जाता कि वे इस मकान के मालिक हैं।"

प्रतीक्षा कर रहे थे। बाद में श्रीरामकृष्ण ने बलराम के सम्बन्ध में कहा था, "वह चैतन्य महाप्रभु का अन्तरंग भक्त है। वह यहाँ (अपनी ओर संकेत करते हुए) का है। मैंने भाव में देखा कि कैसे महाप्रभु ने अद्वैत और नित्यानन्द जैसे महापुरुषों के साथ देश में हरि-नाम की बाढ़ ला दी और उनके अद्भुत संकीर्तन-दल ने जाने कितने नर-नारी-आबाल-वृद्ध सबको भाव-विभोर कर दिया। उस संकीर्तन-दल में मैंने उसे (बलराम को) देखा था।" इस दर्शन के बाद बलराम का सौम्य, भक्ति-उद्भासित चेहरा श्रीरामकृष्ण के मानसपटल पर हमेशा के लिए अंकित हो गया। अतएव उनके लिए अब बलराम को पहचानना कठिन न था।[४]

श्रीरामकृष्ण तब लगभग पैंतालीस वर्ष के थे। उनका वह हँसमुख, भगवद्भाव के आनन्द से दमकता

४. प्रथम दर्शन के दूसरे ही दिन सुबह बलराम पुनः दक्षिणेश्वर गये। इस दूसरी भेंट में श्रीरामकृष्ण उनसे बोले, 'देखो, माँ ने मुझे बताया है कि तुम मेरे अपने हो और यह कि तुम माँ के एक रसद-दार हो। यहाँ के लिए बहुतसी चीजें वहाँ तुम्हारे घर में संग्रहित हैं। कुछ खरीदकर यहाँ भेज देना।' (गुरुदास बर्मन, 'श्रीश्रीराम-कृष्णचरित', बँगला में, पृ. १९७)। स्वामी सारदानन्द ने लिखा है, 'श्रीरामकृष्ण देव ने अपने रसददारों में से अन्यतम कहकर बलराम बाबू का कभी निर्देश किया हो, यह हमें विदित नहीं है; किन्तु उनके जिस प्रकार सेवाधिकार को हमने देखा है, हमारी दृष्टि में वह अद्भुत प्रतीत हुआ है।' ('श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' दूसरा खण्ड, पृ. ४७१)।

चेहरा ऐसा मोहक था कि बलराम का हृदय पहली ही दृष्टि में उनका हो गया। उनके हृदय में एक हलचल मच गयी, जिसका कारण वे स्वयं नहीं समझ पाये। सहज रूप से ही उन्हें ऐसा लगने लगा कि श्रीरामकृष्ण उनके नितान्त अपने हैं। उनकी मधुर वाणी ने बलराम को एकदम मोह लिया। बीच में थोड़ा समय निकालकर बलराम ने प्रसिद्ध ब्राह्मनेता केशव की ओर गौर किया, जो आँखों में अचरज का भाव ले श्रीरामकृष्ण के वचनों को सुनते हुए चुप बैठे थे।

थोड़ी देर बाद हृदयराम ने सूचना दी कि अतिथि-अभ्यागतगण माँ काली का प्रसाद लेने चलें। श्रीरामकृष्ण ने भी केशव तथा अन्य लोगों से अनुरोध किया कि वे लोग चलकर प्रसाद पा लें। श्रीरामकृष्ण के कमरे से लगे हुए पूर्वी बरामदे में बैठने की व्यवस्था की गयी थी। केशव और अन्य आमंत्रित जन धीरे धीरे वहाँ जाकर बैठे।

अब श्रीरामकृष्ण ने बलराम को समीप आने का इशारा किया और कहा, "बोलो तुम्हें क्या कहना है?"

बलराम ने पूछा, "महाशय, क्या ईश्वर है?"

"निस्सन्देह ईश्वर हैं," झट उत्तर मिला।

"तो क्या उनके दर्शन हो सकते हैं?"

"ईश्वर अपने को उस भक्त के पास प्रकट करते हैं, जो उन्हें अपना सबसे निकट और प्यार का मानकर उनका चिन्तन करता है। एक बार उनसे प्रार्थना करने पर यदि उत्तर न मिले, तो ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल

लेना चाहिए कि वे नहीं हैं। सूरज के प्रकाश में तारे नहीं दिखते, इसलिए क्या ऐसा कहोगे कि दिन में तारों का अस्तित्व नहीं होता ?"

बलराम ने विनम्रतापूर्वक कहा, "तो फिर मैं इतनी प्रार्थना करके भी उन्हें क्यों नहीं देख पाता ?"

श्रीरामकृष्ण मुसकराते हुए बोले, "क्या तुम ईश्वर से उसी आत्मीयता के साथ प्रार्थना करते हो, जो व्यक्ति की अपने बच्चों और नाती-पोतों के प्रति रहती है ?"

सरलहृदय बलराम ने स्वीकार किया, "नहीं, महाशय, मैं नहीं सोचता कि मैंने उन्हें कभी सबसे निकट और प्यार का माना है।"

श्रीरामकृष्ण बोले, "ईश्वर को अपने आप से भी अधिक प्यार का मानकर उनसे प्रार्थना करो। मैं सच कहता हूँ, वे अपने भक्तों को बहुत प्यार करते हैं। उन्हें खोजने के पहले ही वे मनुष्य के पास चले आते हैं। यदि भक्त उनकी ओर एक कदम चले, तो वे भक्त की ओर दस कदम आ जाते हैं। ईश्वर की अपेक्षा अधिक आत्मीय और स्नेही कोई नहीं है।"

बलराम ने कभी इस प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में दृढ़तापूर्वक उद्‌गार नहीं सुने थे। श्रीरामकृष्ण का प्रत्येक शब्द उन्हें सत्य प्रतीत हुआ। यद्यपि वे वर्षों से साधना करते आये थे, पर भाव की इस तीव्रता के साथ उन्होंने कभी साधना नहीं की थी। बलराम ने श्रीरामकृष्ण के शब्दों में एक नया आलोक देखा। आध्यात्मिक जीवन का एक

नया आयाम उनके समक्ष उद्‌घाटित हुआ।

बलराम श्रीरामकृष्ण द्वारा दिये गये भोज में अन्य लोगों के साथ सम्मिलित हुए। अतिथियों को पत्तल में परोसा गया—पहले मुरमुरा, नारियल, अदरक आदि; फिर लुची (एक प्रकार की पूरी) और विभिन्न प्रकार की दाल और रसेदार तरकारियाँ; और अन्त में दही और मिठाइयाँ। श्रीरामकृष्ण स्वयं निरीक्षण करते रहे, और लोगों ने बड़े उल्लासपूर्वक छककर भोजन किया। श्रीरामकृष्ण के एक भक्त, जदु मल्लिक, ने इस भोज का खर्च वहन किया।

भोजन हो जाने पर श्रीरामकृष्ण केशव और अन्य भक्तों के साथ पंचवटी गये और पुनः आध्यात्मिक वार्तालाप में संलग्न हो गये। रात के लगभग ग्यारह बज गये, ब्राह्मभक्त घर लौटने के लिए बेचैन होने लगे और थोड़ी देर और वार्तालाप करके श्रीरामकृष्ण से विदा ली।

बलराम ने विदा लेने से पूर्व श्रीरामकृष्ण के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण ने उनसे स्नेहपूर्वक कहा, "फिर से आना, अँ!" बलराम घर तो वापस चले, पर अपने मन को मानो दक्षिणेश्वर में छोड़ चले। श्रीरामकृष्ण के पावन सान्निध्य ने उन्हें इतना विमुग्ध कर लिया था कि वे दूसरे ही दिन सुबह पुनः दक्षिणेश्वर के लिए चल पड़े।

बलराम शीघ्र श्रीरामकृष्ण के विचारों में खो गये। "श्रीरामकृष्ण देव के पुण्यदर्शन से बलराम का मन एकदम परिवर्तित होकर आध्यात्मिक राज्य में बहुत द्रुत गति से अग्रसर हो रहा था। बाह्य पूजा-अर्चना आदि

वैधी भक्ति की सीमा का क्रमण करके थोड़े समय में ही वे ईश्वर में सम्पूर्ण निर्भरशील तथा सदसद्-विचारवान् होकर संसार में अवस्थित रहने में समर्थ हुए थे। पत्नी-पुत्र-धन-जन आदि सर्वस्व उनके चरणकमलों में निवेदित करके दास की तरह संसार में रहकर उनकी आज्ञा का पालन और उनका पवित्र संग जितना अधिक समय हो सके, वही बलराम के जीवन का उद्देश्य हो गया था।"[५]

श्रीरामकृष्ण बलराम के ५७, रामकान्त बसु स्ट्रीट वाले मकान में सौ से भी अधिक बार गये थे।[६] कलकत्ते में और जितने भी घरों में गये, उन सबसे यह संख्या निश्चित ही अधिक थी। यदि दक्षिणेश्वर मन्दिर को 'माँ काली का किला' कहा जा सके, जैसा कि श्रीरामकृष्ण उसे विनोदपूर्वक कहा करते, तो बलराम का निवास 'उनका

---

५. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', तृतीय खण्ड, द्वितीय संस्करण, पृ. १९०।

६. बलराम बोस ने आगमन की इन तिथियों को पंचांग में अंकित करके रखा था; द्रष्टव्य—बैकुण्ठनाथ सान्याल कृत 'श्रीराम-कृष्णलीलामृत', (बँगला में), पृ. ३५८। 'म' ने 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' (तृतीय भाग, तीसरा संस्करण, पृ. ६४) में अपने हृद्गत भावों को प्रकट करते हुए लिखा है, "बलराम के यहाँ श्रीरामकृष्ण अक्सर आते हैं। कलकत्ते में वही एक तरह से उनका प्रधान केन्द्र है। आज बलराम का घर श्रीरामकृष्ण का प्रधान कार्य-क्षेत्र हो रहा है। उस समय मधुर नृत्य और कोमल कण्ठ से ईश्वर-प्रेम की उस सरल वाणी को सुनकर कितने ही भक्त आकर्षित हो रहे हैं! . . . यहीं कितनी ही बार प्रेम का दरबार लगा और आनन्द की हाट जमी।"

दूसरा किला' कहा जा सकता है। श्रीरामकृष्ण के अनुसार, केवल बलराम नहीं, बल्कि उनके परिवार के सभी लोग 'एक सुर में बँधे' हुए थे।[७]

•

७ 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', द्वितीय खण्ड, पृ. ४७४.

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (७)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के संन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसंचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है। — स०)

रात के ८-८॥ बजे हैं। अपने कमरे में बाबा एक ब्रह्मचारी से कह रहे हैं, "भोजन के बाद ९ बजे आना, (स्मृतिकथा) लिखाऊँगा। तब जरा ज्यादा देर लिखा सकूँगा।" ब्रह्मचारी ने शायद कहा है —— भोजन के बाद लिखने में उसे कष्ट होगा। इसीलिए बाबा जरा ऊँचे स्वर में कह रहे हैं, "क्या? सकोगे नहीं? भोजन के बाद ही सो जाओगे, ९ बजे? न तनिक पढ़ना, न सुनना—— जप-ध्यान तो छोड़ ही दो; मैं कह रहा हूँ, तब भी कहते हो, 'सकूँगा नहीं'। मैं तो ठहरा बूढ़ा, मैं जग-जगकर सोच-सोचकर लिखाऊँगा—— और तुम जवान छोकरे, फिर भी सकोगे नहीं?" कहते कहते बाबा उठ बैठे——चेहरा उत्तेजित है। पुनः कह रहे हैं, "स्वामीजी पहले ही जानते थे, इसीलिए वे सावधान कर देते और कहते—— 'monastic indolence (संन्यासियों का आलस्य) बड़ी भयंकर बात है, उसी का बड़ा डर है। और यही हमारा काल बनेगा।' खाली खाना और सोना। उच्च चिन्तन और उच्च भाव के धारण की शक्ति भी चली जायगी। कितना बड़ा आदर्श

लेकर आये हो, जरा सोचो तो सही ! और यह लेकर सोचते हो कि स्वामीजी के संघ की सेवा करोगे ? यदि ध्यान-धारणा न कर सको, कुदाल-फावड़ा भी न चला सको, तो language (भाषा) सीखो——देश-विदेश की भाषाएँ—— English, French, German (अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन)। इतनी दूर क्यों, संस्कृत, हिन्दी आदि भी तो अच्छी तरह सीख सकते हो, उससे भी बहुतसा काम होगा। मैंने——से हिन्दी सीखने के लिए कहा था। कैसी सुन्दर सीखी है—— फर्राटे से बोलता है। कुछ तो करो। नहीं तो अकर्मण्य, जड़ हो जाओगे। फिर कुछ न होगा——न यह, न वह। तुम लोग young men (तरुण) हो, लाज नहीं आती कहते कि ९ बजे के बाद और कुछ न कर सकूँगा ? आँखों के सामने देखते नहीं कि यह बूढ़ा परिश्रम कर-करके मरा जा रहा है ? देखकर भी थोड़ा सीखो। माना, ९ बजे सो जाओगे——तो कह सकते हो ३ बजे उठकर थोड़ा बैठोगे ? वह भी नहीं सकोगे। वही ६ बजे उठोगे। फिर दोपहर में विश्राम, माने तीन घण्टे नींद। ये लोग ३ बजे अपराह्न नींद से उठकर आते हैं और कहते हैं—— आराम कर रहा था। हम लोग तो 'आराम' से यह तात्पर्य लेते हैं——कार्य का बदलाव। बस, थोड़ा लेटकर फिर पढ़ना-सुनना।"

वह ब्रह्मचारी एक दिन सन्ध्या समय सिर पर पगड़ी के समान कपड़ा बाँध और एक हाथ में लाठी तथा दूसरे में कमण्डलु ले घूमते घूमते बाबा के पास से दो बार गुजरा। बाबा कैम्प खाट पर बैठे हुए हैं। ब्रह्मचारी को लक्ष्य करके

कहा, "क्या बात है ? मन में क्या है ? दण्ड-कमण्डलु ? समझ गया, समझ गया––सो मुख खोलकर कह तो सकते हो । जानते हो, मैं इस प्रकार की बात पसन्द नहीं करता। कर्मी को गेरुआ क्यों चाहिए ? सफेद कपड़े पहनकर ही किसी आश्रम में रहकर काम-काज करो, त्याग-तपस्या करो। बाद में संन्यासी होना––तब और एक प्रकार से रहना । संन्यासी गेरुआ पहनेगा––भिक्षा का व्रत लेकर साधना करेगा, प्रव्रज्या पर निकल जाएगा । सकोगे ?"

सन्ध्या आरती के पूर्व बाबा कमरे से बाहर हॉल में कुर्सी में अकेले चुप बैठे हुए हैं; पास में कहीं कोई भी नहीं हैं। भक्त ज्योंही पास गया, वे बोले, "जरा पंखा तो ले आ।"

भक्त धीरे धीरे सारे शरीर पर पंखा डुला रहा है । बाबा कहने लगे, "नहीं, गरमी के कारण नहीं; पैर में मच्छर बहुत बैठ रहे हैं, इसीलिए ।" भक्त उस पुनीत सान्ध्यवेला में मौन धीरे धीरे पैरों की ओर हवा करने लगा ।

उस दिन अपराह्न, लगता है, किसी आश्रम-बालक के आचरण से उन्हें धक्का लगा था, तभी वे कुछ क्षण बाद स्वयं होकर कहने लगे, "सोच रहा था, अनाथ बालकों के बीच से कोई तो ऐसा त्यागी और वैराग्यवान् नहीं निकला, जो ठाकुर-स्वामीजी की भावधारा ग्रहण कर सके । तब फिर हुआ क्या ? बड़ा दुःख हो रहा था । ठाकुर ने दिखा दिया और समझा दिया––वे लोग एक मुट्ठी भात

के लिए दर दर भटकते थे, फटे चीथड़े पहनते थे, वे क्या यह सब भाव ग्रहण कर सकेंगे ? देखादेखी यदि ग्रहण कर भी लें, तो क्या उसे बचाकर रख सकेंगे ? इन्हें खाना-कपड़ा चाहिए, थोड़ी शिक्षा चाहिए, जिससे जीवन में खड़े हो सकें। यह जीवन इसी प्रकार कट जायगा, पर हाँ, इतने दिन तक आश्रम में ये रहे तो उसकी छाप थोड़ी न थोड़ी अवश्य रह जायगी।

"जब देखता हूँ कि साधारण-सी बात के लिए कोई स्वार्थी हो रहा है, तो बड़ा कष्ट होता है। कभी एक लौंग भी मैं बिना दिये नहीं खा सका। भोजन के बाद लौंग लेकर मैं खड़ा रहता, ताकि हाथ-मुँह धोकर सब आएँ और लौंग मुँह में दें। सबका हो जाने पर अन्त में मैं एक लौंग मुँह में डालता। हरदम सबको खिलाकर फिर मैंने खाया है। कितने दिन स्वयं न खाकर, न पहनकर उन लोगों को खिलाया और पहनाया है। इस सबसे क्या वे लोग तनिक भी नहीं सीखेंगे ? पर हाँ, दो-एक उनमें निकले हैं—जैसा उनमें त्याग का भाव है, वैसी ही कर्म की शक्ति भी !

"बहादुर—वह तो मनुष्य था ही नहीं, मानो देव-शिशु हो, मानो स्वर्ग से, हिमालय से उतरकर आया हो ! इस मिट्टी-धूल में नहीं रहा; उस दुधमुँहे बच्चे का भला कोई जाने का समय था ? शरीर में कैसा बल था ! मन का जोर भी कैसा ! कैसी खोजी प्रवृत्ति ! कैसा सरल विश्वास ! परोपकार की कैसी स्पृहा ! लेटे लेटे मुझसे कितना पूछता रहता—मनुष्य मरकर कहाँ जाता

है ? मनुष्य जन्म क्यों लेता है ? कुछ के तो उत्तर देता और कुछ के लिए कहता--बड़े होने पर सीखोगे। कुछ दिन बाद ही कहता, 'बाबा, अब मैं बड़ा हो गया हूँ। अब क्या वह सब बात मुझे बताएँगे?' कभी कहानी सुनाकर उसे सुला देता। बड़ा दुर्दम लड़का था--वैसा ही साहसी भी। बेलुड़ ले गया था। सब अस्त-व्यस्त कर देता था, काँच-वाँच सब फोड़ डालता था। अन्त में स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने कहा, 'भाई, तुम्हारा वह पहाड़ी बच्चा तुम्हीं को मुबारक हो।'

"यहीं पर किसानों का एक छोटा बच्चा बरसात के समय स्रोत में डूबा जा रहा था। देखते ही बहादुर छलाँग मारकर पानी में कूद गया और बच्चे को बचा लाया। उसे अपने प्राणों का मोह नहीं था। पेड़ पर निशाना साधकर ढेले मारता। कई बार वे ढेले खेत में किसानों पर आ गिरते। किसान मुझसे कहते--दण्डी महाराज, उसे मना करो। एक बार उसे मैंने समझाया, तब कहीं बात उसकी समझ में आयी। बड़ा दुस्साहसी था। एक बार कोई भारी चीज उसने उठा ली, इससे छाती पर चोट पहुँची। लगता है कोई नाड़ी-वाड़ी तड़क गयी। वह दिन दिन सूखने लगा। कितनी कोशिश की, कितनी दवा की। पर कोई फल न हुआ। इतनी कठिन बीमारी थी, पर अपने हाथ से खाता। एक दिन--मरने से एक दिन पहले--बस, उसी दिन उसे अपने हाथ से मैंने दूध पिलाया था। अन्तिम दिन सुबह मुझसे कहने लगा, 'बाबा, पूजाघर में

जाऊँगा।' मैंने कहा, 'सो क्या बेटे, तुम तो बीमार हो। अच्छे हो जाओ, चंगे होकर पूजाघर में जाना।' वह बोला, 'ना बाबा, मुझे पूजाघर में ले चलो। पूजाघर में जाने से ही मैं अच्छा हो जाऊँगा।' ले गया—ठाकुर के चित्र की ओर अपलक ताकते हुए 'परमेश्वर, परमेश्वर' कहने लगा। फिर ठाकुर का नाम लेते लेते उसने प्राण छोड़ दिये।

"और एक दिन सोच रहा था—अच्छा, मैं इनको (अनाथ बच्चों को) इतना प्यार करता हूँ, फिर भी ये छोड़-छोड़कर क्यों चले जाते हैं? क्या इन्हें तनिक भी खिंचाव नहीं मालूम पड़ता? एक बार लौटकर भी नहीं देखते। क्या इतनी भी इनमें माया नहीं है? देखता हूँ, ठाकुर कह रहे हैं, 'और कोई माया तुझे स्पर्श नहीं कर सकेगी। तू मेरी प्रेमज्योति से घिरा हुआ, मेरे स्नेह से भरा हुआ जो है। संसार का मायिक प्रेम क्या तुम लोगों को स्पर्श कर सकता है रे?' तब बात समझ में आयी और मन शान्त हुआ। वे लोग रहें तो मेरा क्या, और वे लोग चले भी गये तो मेरा क्या? पर हाँ, जिसके साथ जितने दिन का योगायोग। एक बड़े मजे की बात देख रहा हूँ—कोई न कोई गोपाल नाम का हरदम मेरे पास रहता है। वह जो ठाकुर ने दिखाया था—यशोदा और गोपाल, और कहा था, 'देख तो सही, क्या भाव है'!"

इसी प्रसंग में और एक दिन कह रहे हैं, "इसके भीतर माँ यशोदा हैं भला। कभी कभी निकल पड़ती हैं। देखा नहीं उस दिन?"

एक दिन सन्ध्या के बाद बाबा कमरे में खाट पर लेटे हुए हैं। कह रहे हैं, "खेतड़ी में रहते समय मैंने स्वामीजी को अमेरिका में चिट्ठी लिखी। रात ९ बजे लिखने बैठा और जब लिखना पूरा हुआ तो देखा भोर हो गया है। मैंने देश की अवस्था जैसी समझी है और मैं जो कर सकता हूँ—वह सब स्पष्ट करके लिखा और मैंने जानना चाहा कि मुझे क्या करना है। उत्तर की प्रतीक्षा में दिन गिनने लगा और तरह तरह की बात सोचने लगा कि स्वामीजी क्या लिखेंगे। कहीं लिखें—'तू तो संन्यासी है, तेरा इतना सिरदर्द क्यों? साधन-भजन, शास्त्रपाठ, प्रव्रज्या लेकर रह। उन सब कामों में हाथ देकर 'अव्यापारेषु व्यापार' करने मत जा'—तो क्या करना? ठीक किया था कि यदि स्वामीजी उत्तर में ऐसा ही लिखें, तो किसी को कुछ न बताकर भारत छोड़कर चला जाऊँगा, जिससे मुझे देश की यह दुःख-दुर्दशा न देखनी पड़े। काराकोरम होकर एकदम Central Asia (मध्य एशिया) चला जाऊँगा, जहाँ जानेके लिए आगे ही निकल पड़ा था। स्वामीजी ही तो मुझे बुलाकर ले आये थे—उनके साथ हिमालय-भ्रमण करना होगा, ऐसा कहकर। पहाड़ों का रास्ता मेरा जाना हुआ था न, इसीलिए। स्वामीजी के पत्र के लिए उद्ग्रीव हुआ बैठा था। उत्तर आया। यह चिट्ठी 'पत्रावली' में partly published (आंशिक रूप से प्रकाशित) है। पत्र पढ़कर मालूम हुआ—वहाँ तूफान उठा है। उनके विशाल हृदय में सेवाधर्म की जो लाट

उठी थी, उसी ने आकर यहाँ (छाती पर हाथ रखकर) धक्का दिया। मेरे जीवन और कर्म की धारा उसी दिन निश्चित हो गयी।

"पहले खेतड़ी में काम शुरू हुआ, फिर यहाँ पर। स्वामीजी जब जिस भाव पर जोर देते थे, तब वही भाव सत्य मालूम पड़ता था--एकमात्र सत्य। मठ में प्रायः ऐसा होता। इसीलिए कोई आकर अचानक उनका भाव पकड़ नहीं पाता था। जिस दिन सेवाधर्म पर बात चलती, उस दिन ऐसा बोलते कि लगता कि इसे छोड़ बाकी सब मिथ्या और गलत है। जिस दिन शास्त्रज्ञान या ध्यान की बात उठती, उस दिन लगता यही सत्य है और बाकी सब व्यर्थ है।

"स्वामीजी को देखने से लगता मानो साक्षात् शंकराचार्य हैं अथवा बुद्ध हैं--सारा मठ शान्त-स्थिर रहता, मानो ध्यानमग्न हो। और जिस दिन वे राधा और गोपी भाव या भक्ति की चर्चा करने लगते, उस दिन वे पूरी तरह भिन्न ही प्रतीत होते। कहते--

Radha was not of flesh and blood,
Radha was a froth in the ocean of love.

--'श्रीमती राधा रक्त-मांस की नहीं थीं, वे प्रेमसमुद्र की एक बूँद थीं।' यह बात उन्हें कई बार कहते सुना है। कभी अपने आप कुछ कहते रहते और जोरों से टहलते रहते, पर यदि कोई सामान्य रूप से भी राधाकृष्ण या

गोपीभाव की चर्चा छेड़ता, तो वे रोक देते और कहते, 'शंकर को पढ़, शिव के भाव में डूब जा'। त्याग, ज्ञान, धर्म, कर्म—इन सब बातों पर जोर देते।"

शान्त और उद्दीपित भाव से लेटे लेटे ये सब बातें कहते कहते बाबा बिस्तर पर उठकर बैठ गये और कहने लगे, "शिव ! शिव ! शिव शौर्य-वीर्य के देवता हैं—रुद्र, मृत्युंजय, मदनजयी, वीर, श्रेष्ठ वीर। उनसे किसी की तुलना नहीं हो सकती। सभी उनके शरणापन्न हैं। वे लय के कर्ता जो हैं। वही अन्तिम गति है। पहले-पहल शिव का चित्र बनाते थे—कैसा रद्दी ! शिव की कोई idea (धारणा) ही नहीं है—बड़ा सा पेट निकला हुआ है, आँखें अस्वाभाविक रूप से तन्द्रालस हैं—गाँजाखोर, भाँगखोर शिव ! जैसा देश, उसका वैसा ही भगवान्। अब हमारे युग की तुलना में art (चित्रशिल्प) बहुत improve (उन्नत) हुआ है। कैसे सुन्दर सुन्दर शिव के चित्र देखे हैं। एक ओर जैसे शक्तिमूर्ति, दूसरी ओर वैसे ही शान्तमूर्ति ! कैसा आश्चर्य है ! इसी कमरे में दो प्रकार के चित्र हैं। हिमालय नहीं देखने से शिव को तनिक भी नहीं समझा जा सकता। हिमालय मानो शिव की मूर्ति है। शिव शिव शंकर, शिव शिव शंकर—अहा ! शिव कैसे सुन्दर हैं। ठाकुर ने मुझे चैतन्यमय शिव दिखाया था ! दक्षिणेश्वर में कालीमन्दिर में ले जाकर एक दिन दिखलाया—'यह देख चैतन्यमय शिव !' सचमुच उस दिन मैंने क्या जो देखा ! ठाकुर ने मेरे प्राणों में कैसा आनन्द ढाल दिया ! फिर स्वामीजी ने

दिखाया—जीव-जीव में शिव, जीवन्त शिव ! असहाय, दरिद्र, रुग्ण, भूखा, अन्नहीन, वस्त्रहीन—सब नारायण हैं। स्वामीजी की आँखें ही अलग थीं। सच कहता हूँ—सबको खिलाने से ठाकुर खाते हैं, यह विश्वास मुझमें है—यह मैंने देखा है ! ठाकुर के लिए शायद कोई कुछ लाया है—भोग लगाना होगा, कुछ देर है; मैंने सबको खिला दिया—मन में तनिक भी कुछ न लगा। हमारे ठाकुर लाखों मुंह से खाते हैं। ठाकुर को इस प्रकार खिलाकर ही मुझे अधिक आनन्द मिलता है। मन्दिर में भोग लगाने के बदले यही मुझे अच्छा लगता है। पहले तो मैं पूजाघर बनाना ही नहीं चाहता था—वह सब तो तुमने सुना ही होगा। संन्यासियों का भला पूजाघर क्या ? सब तो ब्रह्ममय है। पूजाघर में भोग लगाये बिना ठाकुर का खाना नहीं होगा, सो क्यों ? ठाकुर सभी के मुख से खाएँगे—ब्रह्मार्पणम्।

"आलमबाजार मठ में खूब गरमी होती—कोई सो नहीं पाता। मैं उठकर पंखे से हवा झलता रहता और realise (अनुभव) करता कि दस लोगों के सुख में मेरा सुख है, दस में मैं हूँ, दस की सेवा ठाकुर की सेवा है—सबको पंखा झलता, वे सुखपूर्वक सो जाते और मेरी भी थकावट दूर हो जाती।"

'स्मृतिकथा' का लेखन चला है। आलमबाजार मठ में भूत होने की बात लिखाकर बाबा कहने लगे, "भूत है या नहीं—यह बिना देखे मैं मानता नहीं था। ठाकुर से जब मैंने कहा कि 'भूत नहीं है', तो वे बोले, 'क्या कहता है रे,

मैंने जो देखा है। मेरे जाने से वे कष्ट से छटपटाने लगे थे, मैं वहाँ से चला आया, तब कहीं वे बचे।' यहाँ कभी कभी देखता हूँ--विशेषकर आजकल--एक अशरीरी छाया, भैरव-टैरव कोई होगा।"

सन्ध्या के पश्चात् कमरे में खाट पर लेटे हुए 'स्मृतिकथा' लिखाते लिखाते बाबा कहने लगे, "मठ में एक दिन शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) के साथ चर्चा चलने लगी। पहले-पहल ऐसा लगा था कि हम लोगों का जीवन भी मानो ठाकुर के साथ ही समाप्त हो गया। पर उसके बाद शुरू हुआ साधन-भजन--गुरुभाइयों का मिलकर कभी वराहनगर में तो कभी पहाड़ों में, निर्जन स्थानों में, तीर्थों में। फिर स्वामीजी को केन्द्रित कर मठ-मिशन यह सब हुआ। स्वामीजी के चले जाने पर सचमुच ऐसा लगा था कि अब सब कुछ समाप्त हो गया है। शरत् महाराज बोले--सचमुच हम लोगों का जीवन उन लोगों के साथ ही चला गया है। यह सब मानो बाहर का है। भीतर की बात--वे लोग। ठाकुर की बात, स्वामीजी की बात, साधन-भजन की बात, इन सबकी जितनी 'जुगाली' की जा सके, उतना ही अच्छा, उतना ही आनन्द।

"इसीलिए तो ये सब बातें लिखाने की इच्छा है। सतत उनकी बातें याद आ रही हैं, उनका स्मरण हो रहा है--यही तो एकमात्र सुख है। सोते-लेटते निश्चिन्त नहीं हो पाता, सोचता रहता हूँ क्या लिखाऊँगा, किसके बाद किसको लिखाऊँगा, सब याद नहीं आ रहा है क्यों? बहुत

कुछ मन में आकर सब गड़बड़ी पैदा कर जाता है। सारी बातें नहीं कही जा सकतीं, कही भी जायँ तो लिखी नहीं जा सकतीं।

"स्वामीजी ने कहा था, 'जब पहले की बातों को सोचने की कोशिश करता हूँ तो देखता हूँ मानो फिल्म चल रही है--कितने दृश्य, कितनी घटनाएँ! जो देखी हैं, जो नहीं देखीं--ऐसी भी कई, जिन्हें शायद कभी न देखूँ!' शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) ने कहा था, 'किस प्रकार होता है, जानते हो?--मानो खिलखिल करके फूल खिल रहा है, खिल खिल। फिर कैसा होता है सुनोगे? . . .

"उस ओर (पश्चिम में) एक पत्थर है। कहते हैं। उस पर सोने से पूर्वस्मृतियाँ जाग उठती हैं। पर मुझे तो कुछ नहीं हुआ। बहुत देर तक प्रयत्नपूर्वक उस पर लेटे रहा। क्या होगा वह सब जानकर? सारी स्मृतियाँ तो आखिर माँ के जठर में ही जाकर लगेंगी--हाथ-पैर समेट-कर...। इसी प्रकार तो सारे जन्म हुए हैं। मेरी तो अब इच्छा नहीं होती। क्यों रे, तुम लोगों की और जन्म लेने की इच्छा होती है? अँ!" यह कह उठकर बैठ गये और हाथ जोड़कर प्रणाम किया तथा मन ही मन कोई प्रार्थना करने लगे।

●

सच्चा समाजवाद

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं। बम्बईस्थित रामकृष्ण मिशन के नवनिर्मित 'सभाभवन' तथा 'ग्रन्थालय' का १० फरवरी, १९७८ को उद्घाटन करते हुए उन्होंने अंगरेजी में जो आशीर्वचन दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का रूपान्तरण है।--स०)

इस 'विवेकानन्द सभा भवन' तथा 'स्वामी शिवानन्द ग्रन्थालय' का उद्घाटन करते हुए में प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मैं प्रबन्ध-मण्डल को बधाई देता हूँ, जिसने इस निर्माण-कार्य को इतनी अल्प अवधि में सम्पन्न कर लिया।

ये ग्रन्थालय हमारी गतिविधियों के एक अंग हैं-- हमारी सांस्कृतिक गतिविधियों के। सारे देश भर, वे हमारे शाखा-केन्द्रों से संलग्न हैं। जो हमारी संस्कृति को जानना चाहते हैं तथा साथ ही रामकृष्ण-विवेकानन्द एवं माँ सारदा के सन्देश का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए ये ग्रन्थालय सदैव सेवा करने हेतु तत्पर हैं।

आज हमारे सामने बहुत से 'वाद' हैं -- समाजवाद है, साम्यवाद है तथा अन्य बहुतेरे वाद हैं। स्वामीजी ने एक समय स्वयं कहा था, "मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि उसे हमारे समस्त रोगों की रामबाण दवा मानता हूँ, बल्कि इसलिए कि कुछ नहीं से आधी रोटी अच्छी।" उस दृष्टिकोण से उन्होंने देश की समाजवादी विचारधारा की सराहना की, उसका स्वागत किया। तथापि तब यह विचारधारा

उतनी प्रबल नहीं थी, वह तो मात्र प्रारम्भ था। फिर भी उन्होंने घोषणा की कि एक दिन वह सारे संसार में एक प्रबल आन्दोलन का रूप ले लेगी। उन्होंने समाजवाद को आधी रोटी क्यों कहा? इसलिए कि वर्तमान युग के समाजवाद, साम्यवाद आदि सारे वाद पश्चिम की जड़वादी सभ्यता की ही उपशाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। वे केवल आर्थिक क्षेत्र में, भौतिक स्तर पर ही, कार्य करते हैं, उसके आगे नहीं। पर मनुष्य केवल भौतिक स्तर पर नहीं जीता, वह बुद्धि और अध्यात्म के स्तर पर भी जीता है। समाजवाद और साम्यवाद मनुष्य के इन दो स्तरों को अपने में समायोजित नहीं करते। स्वामीजी ने कहा था कि उच्चवर्णों ने जन-साधारण का न केवल शोषण किया और उसके श्रम से उत्पन्न देश की सम्पदा में उसका जो न्यायोचित अधिकार है, उससे उसे वंचित किया, बल्कि उसे देश की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत से भी वंचित कर दिया। जन-साधारण को यह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत नहीं दी गयी, भले ही उसका सन्देश देश के बाहर अन्य राष्ट्रों में प्रसारित किया गया। स्वामीजी चाहते थे कि हमारे पूर्वजों द्वारा उद्घाटित संस्कृति और आध्यात्मिक सत्य देश में ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, शिक्षित-अनपढ़ शहरी-देहाती——सबके दरवाजे तक ला दिये जायँ। इसमें पद या अन्य किसी प्रकार का भेदभाव न बरता जाय। हमारी भारतीय संस्कृति और दर्शन का यह सन्देश तथा उपनिषदों का धर्म सारे देश भर में प्रसारित किया जाय।

वे चाहते थे कि देश में आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय, जिससे कि अध्यात्म के क्षेत्र में हमारे पूर्वजों द्वारा आविष्कृत ये समस्त धार्मिक सत्य सब लोगों के द्वारा ग्रहणीय हो सके। और उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि जिस दिन यह घटेगा, समूचा राष्ट्र इस महान् आदर्श को आत्मसात् कर एक नये बल से बली हो अपना नवनिर्माण कर लेगा तथा संस्कृति और समुन्नति के बहुत ऊँचे स्तर पर प्रतिष्ठित हो जायगा। आप इसे विवेकानन्द-वाद या वेदान्त-वाद, या जो चाहें कह सकते हैं। यह वाद मनुष्य को समूचे तौर पर--उसके अस्तित्व को भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक इन तीनों स्तरों पर--ग्रहण करता है। यही कारण था कि उन्होंने समाजवाद को केवल आंशिक निदान के रूप में देखा था।

हम स्वामीजी के विचारों को देश में रूपायित करने का प्रयास कर रहे हैं। हम श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी के सन्देश को गाँवों में, पिछड़े और आदिवासी क्षेत्रों में प्रसारित करने का प्रयास कर रहे हैं। मुझे यह कहते प्रसन्नता होती है कि इन पिछड़े क्षेत्रों के लोग इस सन्देश को बड़ी उत्सुकता के साथ ग्रहण कर रहे हैं। लगता है वे ऐसे सत्यों की चाह कर रहे हैं। यदि हम ऐसा कार्य एक बड़े पैमाने पर करें, तो आदिवासी क्षेत्रों की कई समस्याएँ हल हो सकती हैं। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के कुछ चुने हुए अंश और स्वामी विवेकानन्द की संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित कर आदिवासियों में वितरित की गयी। और मैं बताऊँ,

आदिवासी क्षेत्रों के ये लोग इतनी रुचि लेने लगे कि वे इस प्रकार की अधिकाधिक पुस्तकों की माँग करने लगे। एक आदिवासी क्षेत्र में श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का एक परचा उन्हीं की भाषा में छापा गया और वह उस सारे क्षेत्र में फैल गया। आज अरुण चटर्जी द्वारा लिखा गीत 'रामकृष्ण-शरणम्, रामकृष्णशरणम्', मेरी समझ में, इस आदिवासी क्षेत्र में गाया जाता है। जब आप इस आदिवासी क्षेत्र में प्रवेश करेंगे, तो देखेंगे कि लोग यह गीत गा रहे हैं और नाच रहे हैं। यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार वे इस सन्देश को ग्रहण कर रहे हैं, और यदि कहीं कोई त्रुटि है, तो वह हमारी है--हम यह सन्देश उन तक नहीं ले गये।

निस्सन्देह रामकृष्ण मिशन स्वामीजी के सन्देश को कार्यरूप देने का यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा है, पर मैं आपसे स्पष्ट कहूँ कि हम शहरी या आदिवासी क्षेत्रों में जो कुछ कर रहे हैं, वह सारे राष्ट्र की आवश्यकता की तुलना में कणिका मात्र है। इसलिए यह जरूरी है कि इस रामकृष्ण-विवेकानन्द-सन्देश का प्रचार और प्रसार सारे देशभर में किया जाय, जिससे देश का युवावर्ग अर्थहीन राजनैतिक जुलूसों और नारेबाजी आदि में अपनी शक्ति और समय का वृथा क्षय न कर, जैसा कि आज वह कर रहा है, जनसाधारण को शिक्षित करने के रचनात्मक कार्यों को अपनाये। इससे वे देश की अधिक सेवा करेंगे। यही कारण है कि हम स्वामीजी के सन्देश के प्रसार पर बल देते हैं।

फलस्वरूप, देश में जहाँ भी हमारे केन्द्र हैं, उनके साथ एक ग्रन्थालय अवश्य है। भले ही ये ग्रन्थालय बहुत छोटे हैं, तथापि जो आकर उनका लाभ लेते हैं, उन्हें कुछ न कुछ प्रेरणा अवश्य मिलती है। मैं कामना करता हूँ कि रामकृष्ण-विवेकानन्द और माँ सारदा का सन्देश देश भर में सर्वत्र फैल जाय, जिससे अनेक व्यक्ति, अनेक संस्थाएँ, अनेक समितियाँ सामने आएँ और स्वामीजी द्वारा प्रदर्शित देश के पुनरुत्थान के कार्य में लग जाएँ। इसीलिए मैं इस बात पर जोर देता हूँ कि यह सन्देश सामाजिक कार्य की भी अपेक्षा देश में अधिक फैल जाय। इस सन्देश के प्रचार-प्रसार का कार्य अस्पतालों और विद्यालयों आदि की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैं यह नहीं कहता कि अस्पताल और विद्यालय अनुपयोगी हैं, पर यदि सन्देश का ठीक ठीक प्रसार हुआ और लोगों ने उसे ग्रहण किया, तो आज रामकृष्ण मिशन जितना कुछ कर सक रहा है, उसकी अपेक्षा सौगुना, यही क्यों, हजारगुना कार्य सम्भव हो सकेगा। उस दृष्टिकोण से मैं कह रहा हूँ कि मिशन द्वारा किये जानेवाले सामाजिक कार्य की अपेक्षा सन्देश का प्रसार अधिक महत्त्वपूर्ण है।

●

स्यामल गौर किसोर बर

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

वनमार्ग में एक वृक्ष के नीचे भगवान् राम, जगज्जननी श्री सीताजी और श्री लक्ष्मणजी विराजमान हैं। आसपास ग्रामीण स्त्री-पुरुष एकत्र हैं। वे एकटक उनकी ओर निहार रहे हैं। उनमें से कुछ ग्राम-वधूटियाँ श्री सीताजी के निकट चली जाती हैं और उनसे प्रश्न करती हैं कि ये दोनों श्याम और गौर वर्ण के राजकुमार आपके कौन हैं?——

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं।
पूँछत अति सनेहँ सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाएँ।
कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं।
तिय सुभायँ कछु पूछत डरहीं॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी।
बिलगु न मानब जानि गवाँरी॥
राजकुअँर दोउ सहज सलोने।
इन्ह तें लही दुति मरकत सोने॥ २/११५।४-८

स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नैन॥ २।११६

कोटि मनोज लजावनिहारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥ २।११६।१

यह गाँव की साधारण स्त्रियों की जिज्ञासा है। इसके

पहले जब भगवान् राम विश्वामित्र के साथ जनकपुर में जाते हैं, तब उनका एक और चित्र देखने में आता है। इन दोनों राजकुमारों को देखकर महाराज श्री जनक के मन में भी जिज्ञासा होती है। वे भी महर्षि विश्वामित्र से प्रश्न करते हैं--

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥ १।२१५।१

--'कहिए प्रभु, ये दोनों बालक मुनि-कुल-तिलक हैं या नृपकुल के रक्षक हैं ?' गोस्वामीजी तत्त्वज्ञ महाराज जनक और गाँव की गँवार स्त्रियाँ--दोनों को जिज्ञासु के रूप में प्रस्तुत करते हैं। गाँव की स्त्रियाँ अपना परिचय भी यही कहकर देती हैं कि यदि हमारी जिज्ञासा में, हमारे प्रश्न में कोई अशिष्टता हो, तो हमें गँवार जानकर क्षमा करेंगी। और उत्तर भी इन दोनों को विलक्षण प्राप्त होता है। इसके द्वारा गोस्वामीजी अपने उस मूल सूत्र का प्रतिपादन करते हैं, जिसे उन्होंने 'मानस' के प्रारम्भ में प्रस्तुत किया। प्रश्न यह था कि कविता का उद्देश्य क्या होना चाहिए ? गोस्वामीजी ने कहा कि मेरी दृष्टि में कविता का उद्देश्य यह है कि वह गंगा के समान सबका हित करे--

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥ १।१४।९

गोस्वामीजी की मान्यता है कि कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य को गंगा के समान सबका हित करना चाहिए और उन्होंने वस्तुत: गंगा की धारा की परम्परा को 'मानस' में

स्वीकार किया। हमारी सस्कृति में दो परम्पराएँ रही हैं—एक मन्दिर की परम्परा और दूसरी गंगा की परम्परा। हम दोनों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। मन्दिर के प्रति हमारा समादर है और गंगा के प्रति भी हमारे अन्त:करण में असीम आकर्षण है। पर दोनों में पार्थक्य है। मन्दिर जाने के लिए कुछ बन्धन हैं। मन्दिर में द्वार हैं। मन्दिर के खुलने का बँधा हुआ समय है। अर्थात् हमें मन्दिर जाने के लिए एक निश्चित समय पर जाना होगा। मन्दिर में देश का भी व्यवधान है; मन्दिर एक विशेष स्थान पर होगा। फिर मन्दिर जानेवाले को स्नान करके, स्वच्छ बनकर, पवित्र होकर जाना होगा, तब मन्दिर में प्रवेश का अधिकार प्राप्त होगा। इसका अभिप्राय यह है कि मन्दिर में देश, काल और पात्र की योग्यता का बन्धन है। पर गंगा का दर्शन इससे उल्टा है। गंगा में व्यक्ति स्नान करके, या स्वच्छ होकर नहीं जाता। वहाँ तो वह स्वच्छ होने के लिए जाता है। वहाँ कोई द्वार नहीं है, पहुँचने के लिए कोई समय नहीं है। गंगोत्री से लेकर समुद्र पर्यन्त कहीं भी और किसी भी समय व्यक्ति गंगा के पावन जल को पाकर धन्य हो सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि गंगा की शैली माँ की शैली है और मन्दिर की प्रकृति पिता की प्रकृति है। पिता बालक से आशा करता है कि वह स्वच्छ होकर योग्य बनकर उसके पास आए, पर यदि माँ बालक से कहे कि जब तक तुम स्वच्छ नहीं हो जाओगे, मैं तुम्हें गोद में नहीं लूँगी, तब तो बालक के सामने बड़ी समस्या

हो जाएगी। पिता यदि बालक को गन्दा और मलिन देखे, तो कह देगा---जाओ, स्वच्छ कपड़े पहनकर आओ। और तब बालक किसके पास जाएगा?---माँ के पास। और माँ उसे स्वच्छ बना, साफ कपड़े पहना पिता की गोद में भेजेगी। तो, पिता योग्यता की आशा रखता है और माँ योग्य बनाती है। मन्दिर और गंगा की प्रकृति में यही भेद है। हमारे यहाँ धर्मग्रन्थों में भी दो प्रकार के ग्रन्थ हैं--कुछ मन्दिर के समान और कुछ गंगा के समान। 'रामचरित मानस' का दर्शन गंगा का दर्शन है और वेद मन्दिर की भाँति पावन हैं। वेदों में व्यक्ति के ज्ञान का, देश-काल और पात्र की योग्यता का प्रश्न आता है। पर गोस्वामीजी ने इस दिव्य 'रामचरितमानस' में जिस शैली का प्रवर्तन किया, उसका मुख्य उद्देश्य यही था कि वह गंगा के समान सर्वलोकहितकारिणी हो, वहाँ यह बन्धन न हो कि कौन इसे पाने का अधिकारी है और कौन अनधिकारी। और उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये ईश्वर की, भगवान् राम की विशेषता ही यह है कि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति पा सकता है। संसार में अन्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग्यता का एक मापदण्ड होता है, पर ईश्वर को समझने का मापदण्ड कौन सा हो? गोस्वामीजी कहते हैं कि ईश्वर को पानेके लिए किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं। ईश्वर ही ऐसे हैं, जिन्हें योग्य और अयोग्य सभी व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं। और इसीलिए उनके ईश्वर के निकट जनक-जैसा तत्त्वज्ञ व्यक्ति और

साधारण ग्रामीण व्यक्ति समान रूप से जाते हैं। भगवान् राम के पास बड़े बड़े मुनि भी जाते हैं तथा बन्दर और भालू भी। भगवान् राम प्रत्येक को सुलभ हैं, वे प्रत्येक के अपने हैं।

भगवान् राम यदि प्रत्येक के अपने हैं, तब तो उन्हें निष्पक्ष होना चाहिए। पर गोस्वामीजी एक विलक्षण बात कहते हैं और वह यह कि हमारे राम निष्पक्ष नहीं हैं। यह कैसी उल्टी बात गोस्वामीजी ने कह दी? पक्षपात की तो सर्वत्र निन्दा की जाती है। जो पक्षपात करता है, वह अन्याय को प्रश्रय देता है। अतः निष्कर्ष निकला कि व्यक्ति को निष्पक्ष होना चाहिए। पर सत्य यह है कि निष्पक्षता की सराहना तो होती है, लेकिन निष्पक्षता के प्रति किसी के मन में राग उत्पन्न नहीं होता। निष्पक्षता मनुष्य के अन्तःकरण में आदर को जन्म तो देती है, पर अपनत्व और प्रेम को जन्म नहीं देती। इसीलिए गोस्वामीजी भगवान् राम के चरित्र में निष्पक्षता के दर्शन के बदले जो पक्षपात का दर्शन देते हैं, उससे एक नया रस उत्पन्न हो गया। प्रत्येक व्यक्ति निष्पक्षता चाहता है, पर किसके लिए? अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए। गोस्वामीजी लिखते हैं, जब भगवान राम पुष्पवाटिका में पहुँचे, तो उनके माथे पर मोरपंख था। वहाँ तो कई प्रकार के पक्षी थे---चातक थे, कोकिल थे, कीर और चकोर थे तथा मोर भी थे ---

चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नटत कल मोरा॥ १।२२६।६

पर भगवान् राम के माथें पर न तो चातक का पक्ष बाँधा गया, न कोकिल का, न कीर का और न चकोर का; केवल मोर का पक्ष बाँधा गया। इसमें संकेत क्या था ? यह कि ईश्वर को पक्षधर बनाना है, लेकिन ऐसा पक्षधर कि जिस पक्षधरता में किसी को अन्याय की अनुभूति न हो। और इस पक्षधरता का विचित्र दर्शन क्या है ? पक्षपात की निन्दा तो सभी लोग करते हैं, लेकिन कोई भी व्यक्ति अपने प्रति पक्षपात की निन्दा नहीं करता, दूसरे के प्रति यदि पक्षपात हो तो ही व्यक्ति निन्दा करता है। यह मानवीय प्रकृति है। जब भी हम कहते हैं कि लोग बड़े अन्यायी हैं, बड़े पक्षपाती हैं, तब कोई यह नहीं कहता कि मेरा किसी ने पक्ष लिया इसलिए वह अन्यायी है। उसका अभिप्राय यही होता है कि उसकी तुलना में दूसरे के प्रति पक्षपात क्यों किया गया ? गोस्वामीजी ने कहा कि ईश्वर को पक्षधर तो बनाना है, पर ऐसा पक्षधर जिसमें सबको आनन्द आए और जिस पक्षधरता की कोई निन्दा न करे। अगर कहें कि ईश्वर चातक-पक्षधर हैं, कोकिल-पक्षधर हैं, अथवा चकोर-पक्षधर हैं, तो लोगों को लगेगा इससे हमें क्या लेना-देना है। पर यदि कोई कहे कि ईश्वर हमारे पक्षधर हैं, तो अपनापन आ जाता है। भगवान् राम की पक्षधरता की विशेषता यह है कि जो भी भगवान् राम को देखता है, उसको यही लगता है कि राम तो मोर-पक्षधर है, दूसरे किसी के पक्षधर नहीं। यह बड़ी चतुराई का दर्शन है। यदि जीवन ऐसा बनाया जा सके कि प्रत्येक व्यक्ति को यही लगे कि ये

हमारे पक्षपाती हैं, तो ऐसा व्यक्ति समाज में जितना प्रिय होगा उतना कोई हो ही नहीं सकता। निष्पक्षता से ऊँचा दर्शन पक्षपात का दर्शन है। भगवान् राम के चरित्र का कौशल यह है कि उन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता कि वे निष्पक्ष हैं। उन्हें देखकर यही लगता है कि वे बड़े पक्षपाती हैं। और आनन्द की बात यह है कि सभी कहते हैं कि प्रभु मेरे पक्षपाती हैं। जब भगवान् राम ऋषि-मुनियों के यहाँ जाते हैं, तो मुनियों को लगता है कि इनके अन्त:करण में हमारे प्रति सर्वाधिक आदर-भाव है और जब भगवान् कोल-किरातों से मिलते हैं, तो उनको प्रभु में इतने अपनत्व की अनुभूति होती है कि उन्हें लगता है ये हमारे अपने ही हैं। अत: यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वे ज्ञानियों के हैं या भक्तों के अथवा अनपढ़ ग्रामीणों के। उसी दर्शन का गोस्वामीजी ने आदि से अन्त तक अपनी अनोखी पद्धति से निर्वाह किया है। इसमें उनका तात्पर्य यही है कि यदि ईश्वर को पाने में भी योग्यता का बन्धन होगा अथवा ईश्वर का कोई मापदण्ड होगा कि इस प्रकार का व्यक्ति ही उसे प्राप्त कर सकता है, तब तो स्वभावत: ईश्वर सबका नहीं हो सकता और हर व्यक्ति उससे अपनत्व की अनुभूति नहीं कर सकता। इसीलिए गोस्वामीजी भगवान राम के बारे में लिखते हैं कि उनसे प्रत्येक व्यक्ति अपनेपन की अनुभूति कर सकता है।

भगवान् के अवतार के प्रयोजन के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने लिखा——

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥ १/१९२

——ब्राह्मण गाय, सुर और सन्त का हित करने के लिए ईश्वर ने अवतार लिया । पर उनके अवतार का केवल यही प्रयोजन नहीं । ब्राह्मण, गाय, सुर और सन्त का विरोधी कौन है ?——रावण । और रावण का दर्शन क्या है ?——

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं ।
नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ॥ १/१८२/६

——वह जहाँ भी ब्राह्मण और गाय देखता है, नगर, गाँव, सब जगह आग लगा देता है । अर्थात् वह ब्राह्मणों का विरोधी है, सुर और सन्त का विरोधी है । और जब भगवान् विप्र, धेनु, सुर, और सन्त का हित करने के लिए आये हैं, तो स्पष्ट है कि वे इन चारों के विरोधी का नाश करने भी आये हैं । पर रावण के प्रति, जो विप्र, धेनु, सुर और सन्त का विरोधी है, भगवान् राम की धारणा क्या है ? गोस्वामीजी इसे एक वाक्य में लिखते हैं । जब प्रभु अंगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजने लगे, तब उन्होंने अंगद के कान में एक मंत्र दे दिया । अंगद ने पूछा कि मुझे रावण से क्या वार्तालाप करना है ? भगवान् राम ने कहा कि मैं तुम्हें यह नहीं बताऊँगा कि तुम्हें क्या कहना है । बस, तुम एक बात अपने ध्यान में रखना और वह यह——'काज हमार तासु हित होई' (६।१६।८)——हमारा कार्य हो

और उसका कल्याण हो। तात्पर्य यह कि विप्र, धेनु, सुर और सन्त का भी हित होना चाहिए तथा इनका जो विरोधी है, उसका भी हित होना चाहिए। ऐसे अनेक अनोखे प्रसंग हैं, जहाँ गोस्वामीजी ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है।

भगवान् राम महर्षि विश्वामित्र के साथ जाते हैं कि सामने ताड़का आ जाती है। भगवान् जा रहे हैं यज्ञ पूरा करने और यह ताड़का यज्ञ को नष्ट करती है। ताड़का को देखते ही विश्वामित्र ने आज्ञा दी——'राम, प्रहार करो!' भगवान राम ने धनुष पर बाण चढाया और एक ही बाण से उसका वध कर दिया——'एकहि बान प्रान हरि लीन्हा।' इससे लगा कि भगवान् राम विश्वामित्र के हितैषी हैं तथा उनके आदेश पर उन्होंने तुरन्त ताड़का का वध कर दिया। पर गोस्वामीजी धीरे से एक बात और कह देते हैं——

दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा। १/२०८(ख)/६

——'उसे दीन जानकर प्रभु ने अपना पद भी प्रदान कर दिया।' तात्पर्य यह कि प्रभु विश्वामित्र के हितैषी तो हैं, साथ ही ताड़का के भी हितैषी हैं। विश्वामित्र की आज्ञा का पालन करने के लिए संहार करना चाहिए यह उन्हें अभीष्ट है, पर साथ ही ताड़का की भी दुर्गति न हो, उधर भी उनकी दृष्टि है। प्रभु के लेन-देन का यह व्यापार देखकर कि प्रभु ने ताड़का के प्राण लिये और अपना धाम दिया, विश्वामित्र चकित रह गये। उन्होंने सोचा कि यहाँ तो लेन-देन बहुत अच्छा है और बस, उन्होंने भी तुरन्त लेन-देन प्रारम्भ कर दिया——

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।। १।२०८।७

महर्षि विश्वामित्र का अभिप्राय यह था कि जब आप ताड़का के प्राण लेकर इतनी उत्कृष्ट वस्तु दे सकते हैं, तब तो आपको जो भी वस्तु दी जायगी, उसे लेकर बदले में आप अनन्त रस प्रदान करेंगे। प्रभु के चरित्र में गोस्वामीजी ने आदि से अन्त तक इसी दर्शन का प्रतिपादन किया है। ईश्वर की पूर्णता यही है कि वह सबका हितैषी है, प्रत्येक व्यक्ति उसे पा सकता है। कितनी योग्यता होने पर व्यक्ति ईश्वर को पा सकता है? मात्र उतनी ही, जितनी प्रभु ने उसे दी है। उसके लिए कोई विशेष योग्यता अपेक्षित नहीं। इसीलिए 'मानस' में हम पाते हैं कि सभी प्रकार के लोग भगवान् को जानने के लिए प्रस्तुत होते हैं। तत्त्वज्ञ जनक ने भगवान् राम और लक्ष्मण को देखा और विश्वामित्रजी से पूछ दिया--ये कौन हैं? जब वनपथ पर प्रभु चले, तो कुछ बूढ़े-सयाने व्यक्ति मिले। उन्होंने लक्ष्मणजी के माध्यम से चतुराई से भगवान् को पहिचान लिया--

जे तिन्ह महुँ बय बिरिध सयाने।
तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने ।। २।१०९।४

फिर हनुमानजी प्रभु से मिलते हैं। और उन्होंने सीधे ही उनसे पूछ लिया, 'को तुम स्यामल गौर सरीरा'---बताइए आप दोनों कौन हैं? तो, भगवान् राम को जनक ने सन्त के द्वारा जाना, वृद्धों ने लक्ष्मणजी के द्वारा जाना, हनुमानजी

ने स्वयं प्रभु से पूछ कर जाना, पर गाँव की ये स्त्रियाँ तो सबसे आगे बढ़ गयीं। उन्होंने स्वयं सीताजी से पूछ लिया-- ये तुम्हारे कौन हैं ?--

कोटि मनोज लजावनिहारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥ २।११६।१

और यह प्रश्न सुन सीताजी चकित हो गयीं। ऐसा अद्भुत प्रश्न अभी तक उनके सुनने में नहीं आया था। इसके पूर्व जब तत्त्वज्ञ जनक ने विश्वामित्र से प्रश्न किया था, तो विश्वामित्र को बड़ी हँसी आयी थी। उनको लगा था कि आज भगवान् राम को देखकर जनक का ज्ञान-वैराग्य अस्त-व्यस्त हो गया है। श्री राघवेन्द्र और लक्ष्मण उस समय फुलवारी से आये थे, तो सारा समाज उठकर खड़ा हो गया था--'उठे सकल जब रघुपति आये।' जनक आश्चर्यभरी दृष्टि से उन दोनों राजकुमारों को देखने लगे। और जब उनसे रहा नहीं गया, तो विश्वामित्रजी से पूछना प्रारम्भ किया--

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।
कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥ १।२१५।१-४

जब विश्वामित्रजी ने ये प्रश्न सुने, तो खूब हँसे––‘कह मुनि बिहसि।’ इतना हँसे कि उनकी हँसी देख सब लोग चकित हो गये। इन प्रश्नों को सुनकर इतना हँसने की क्या बात थी? विश्वामित्रजी की हँसी साभिप्राय थी। उन्होंने हँसकर भगवान् राम की ओर भी देखा और जनक की ओर भी। और उनकी हँसी में व्यंग्य यह था कि राघवेन्द्र का सौन्दर्य देखते ही जनक इतनी विलक्षण स्थिति में पड़ गये हैं कि स्वयं क्या कह रहे हैं कुछ समझ नहीं पा रहे हैं। जो प्रश्न जनक ने पूछे, वह कोई ज्ञानी की भाषा नहीं थी। पहला ही प्रश्न जो जनक ने किया––‘मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक’, वह उल्टा हो गया था। उन्हें कहना यह चाहिए था––‘नृपकुल तिलक कि मुनिकुल-पालक।’ अन्यत्र कहा भी गया है––

‘मुनिपालक खल सालक बालक।’ ३।१८।११

––‘भगवान् राम मुनियों के पालक हैं तथा नृपकुल-तिलक हैं।’ पर जनक बोले––

कहउ नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥

विश्वामित्र इसलिए भी हँसे कि भइ, यदि बालक कहते हैं तो पालक मत कहिए, और पालक कहें तो बालक मत कहिए। बात बिल्कुल ठीक है। बालक कभी पालक नहीं होता, वह तो पालित होता है। और जो पालक होगा, वह बालक कैसे होगा? एक कथा आती है––गोस्वामीजी और सूरदासजी बैठे हुए थे कि अचानक एक मतवाला हाथी

आया। हाथी आने की खबर सुन सूरदासजी महाराज भागने लगे। गोस्वामीजी के मुँह से निकला, "महाराज, भाग क्यों रहे हैं? क्या भगवान् हमें बचाएँगे नहीं? आइए, बैठिए?" सूरदासजी ने कहा, "महाराज, आपको तो आपके भगवान् बचा लेंगे, क्योंकि वे धनुषबाणधारी हैं। पर हमारे भगवान् तो बालगोपाल हैं, वे अपने को ही नहीं बचा पाएँगे तो मुझे क्या बचाएँगे?" दोनों अपनी जगह सही हैं। सूरदासजी ने जो उत्तर दिया, वह कोई कायरता का उत्तर नहीं है। वह तो भावरस की बात है। जब कृष्ण को नन्हा सा बालक मान लिया, तो उनसे रक्षा की आशा ही क्या करना? बल्कि उनकी ही रक्षा करनी पड़ेगी। तो, बालक और पालक का कोई जोड़ा मिलता ही नहीं। फिर जब अगली बात सुनी, तो विश्वामित्रजी को और भी हँसी आयी। जनक ने कहा--

ब्रह्म जो निगम नेति कह गावा।
उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

—यह ब्रह्म क्या दो रूप धरकर आया है? अब तक शास्त्रों में यही प्रतिपादन किया गया है कि ब्रह्म 'एक-मेवाद्वितीय' है और श्री जनक भी जीवन भर एक ही ब्रह्म की चर्चा करते रहे, और अभी कह रहे हैं कि ब्रह्म दो रूप धारण करके आया है! श्री जनक का अभिप्राय यह था कि वेदों ने ब्रह्म को 'नेति' 'नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) कहा है। जब ईश्वर ने अवतार लिया, तो सोचा होगा कि एक रूप में अवतार लेने से 'नेति' की

बात कट जायगी। तब तो लोग कह देंगे कि ईश्वर ऐसा है—साँवले रंग का है। इसलिए ब्रह्म ने एक रंग और बना लिया। एक साँवला और एक गोरा। यदि कोई कहे कि ब्रह्म क्या साँवले रंग है, तो उधर दिखा देंगे कि नहीं, गोरे रंग का भी है। वेद के नेतित्व की रक्षा हो गयी। तात्पर्य यह कि जनक जैसे अद्वैतवादी को भी द्वैत का दर्शन होने लगा। और जब आगे श्री जनक ने कहा कि मेरा विरागी मन इनको देखकर ऐसा हो गया है, जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर हो जाता है—

सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चन्द चकोरा॥

—तो विश्वामित्र और हँसे और बोले—हैं तो इतने बड़े विरागी और बात कर रहे हैं चन्द्रमा और चकोर की। विश्वामित्रजी को बड़ा आनन्द आया कि आज इस दिव्य सौन्दर्य का दर्शन कर तत्त्वज्ञ के जीवन में भी एक रस की अनुभूति हो गयी, विरागी में दिव्य राग का उदय हो गया। गोस्वामीजी से किसी ने पूछा, "तो क्या जनक का ज्ञान नष्ट हो गया? विदेह की निष्ठा नष्ट हो गयी?" गोस्वामीजी ने कहा, "नहीं भाई, मैं तो यह मानता हूँ कि विदेह तो अब सच्चे विदेह हो गये"—

मूरति मधुर मनोहर देखी।
भयउ बिदेहु विदेहु बिसेषी १/२१५/८

—अभी तक जनक विचार में ही विदेह थे, अब व्यवहार में भी विदेह हो गये। विचार में विदेह होना

और बात है। पर व्यवहार में विदेह होना——शरीर, वाणी, भाषा किसी के अधिकार में न होना विदेह की पूर्णता है। विश्वामित्र ने हँसकर जनक की ओर देखा और कहा कि देख लीजिए, आप जैसे ज्ञानी को भी मैंने ऐसा दर्शन करा दिया कि आप भी अस्तव्यस्त हो गये। फिर विश्वामित्रजी ने मुड़कर भगवान् राम की ओर देखा और हँसते हुए उनसे बोले, "जनक हार गये यह जानकर आप प्रसन्न मत होइएगा। भले जनक मेरी दृष्टि में हारे, पर आपको तो उन्होंने पकड़ ही लिया। आपको भी मैंने एक ऐसे महापुरुष के दर्शन करा दिये, जिनके सामने आप कितना ही वेष बदलकर आये, मनुष्य बने, राजकुमार बने, पर जिन्होंने एक क्षण में ही आपको पकड़ लिया कि आप साक्षात् ब्रह्म हैं!" तत्त्वज्ञ ने विराग की कसौटी पर ब्रह्म को कसकर देखा और ब्रह्म के ब्रह्मत्व के दर्शन कर लिये। गोस्वामीजी ने कहा कि यदि ईश्वर विराग से मिलता है, तो अनुराग से भी मिल जाता है। गाँव की ये जो स्त्रियाँ हैं, वे अनुरागमयी हैं। और उन्हें एक सुविधा अनायास प्राप्त हो गयी है। जब भगवान् राम जनकपुर गये थे, तो वहाँ की स्त्रियों ने भी उन्हें देखा था। वहाँ का दृश्य क्या था? गोस्वामीजी कहते हैं——

जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं।
निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥ १/२१९/४

——अपने अपने भवन के झरोखों से उन्होंने भगवान् राम के दर्शन किये। विदेहनगर में यह मर्यादा का भवन है,

जिसमें ये प्रेम के झरोखे हैं। तो, मर्यादा-भवन के प्रेम के झरोखों से जनकपुर की स्त्रियों ने ब्रह्म के दर्शन किये। दर्शन की यह भी एक पद्धति है। पर गाँव की स्त्रियों को क्या सुविधा हो गयी? वहाँ न तो मर्यादा का भवन है और न झरोखे की अपेक्षा है। वे सीधे सीताजी के पास पहुँच गयीं—

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। २।११५।४

—वे सब सीताजी अर्थात् भक्तिदेवी के सन्निकट पहुँच गयीं और पहुँचकर उनके चरणों में प्रणाम किया। भगवान् राम ने वहाँ जो वस्तु देखी, वह उनको कहीं नहीं मिली और उसका स्मरण उन्हें सदा बना रहा। सीताजी से उन्होंने कहा, "तुम्हें अयोध्या में बहुत सी देवियों से मिलने का अवसर मिला। जनकपुर में भी बहुत सी देवियों से मिली होगी, पर जो दृश्य यहाँ दिखा, ऐसा कहीं नहीं दिखा होगा।" सभी जगह नियम यही है कि जो बड़ी हैं, उनके चरणों में सीताजी प्रणाम करती हैं और वे लोग सीताजी को आशीर्वाद देती हैं। उसी प्रकार जो छोटी हैं, वे सीताजी के चरणों में प्रणाम करती हैं और सीताजी उन्हें आशीर्वाद देती हैं। पर यहाँ गाँव में एक नया ही दृश्य उपस्थित हुआ। जब गाँव की स्त्रियों ने सीताजी से प्रश्न पूछा, और सीताजी ने उत्तर दिया, तो उसके बाद—

अति सप्रेम सिय पायँ परि

—उन्होंने सीताजी के चरणों में प्रणाम किया। प्रणाम तो पहले भी किया था, अब एक नयी बात हो गयी। वह

कौनसी ?—

अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देहिं असीस। २।११७

—पहले प्रणाम किया और फिर आशीर्वाद भी दिया। यह दृश्य तो कहीं नहीं मिला था। प्रणाम करने के बाद तो व्यक्ति आशीर्वाद चाहता है। पर यहाँ आशीर्वाद की कोई कामना नहीं। उल्टे सीताजी को ही आशीर्वाद दिया—

सदा सोहागिनि होहु तुम्ह
जब लगि महि अहि सीस ॥ २।११७

—'जब तक पृथ्वी शेष के सिर पर है, तब तक तुम सदा सुहागिन बनी रहो।' भगवान् राम ने मुसकराकर कहा, "देखो, अज्ञान में भी कितना बड़ा ज्ञान है!" प्रभु का तात्पर्य यह था कि ये थोड़े ही जानती हैं कि सीताजी साक्षात् पराशक्ति हैं और ये साक्षात् ब्रह्म हैं। इन लोगों ने जो कुछ कहा, सब अनुराग में कहा। ज्ञानी ने जिसको ज्ञान की भाषा में कहा, अनुरागी के मुँह से भी वही बात निकली। जनक ने भगवान् राम को देखकर कहा था कि ये साक्षात् ब्रह्म हैं। और गाँव की इन स्त्रियों ने कहा—

एक कहहिं ए सहज सुहाए।
आपु प्रगट भए बिधि न बनाए ॥ २।११९।२

—'हमें तो लगता है कि ब्रह्मा ने इनको नहीं बनाया, ये अपने आप ही प्रकट हो गये!' अब इसकी कसौटी क्या? श्री जनक की कसौटी यह है कि इनको देखकर मेरा विरागी मन अनुरागी हो गया, इसलिए निश्चय ही ब्रह्म हैं। अब इन गाँव की स्त्रियों ने कैसे जाना कि ब्रह्मा ने इन्हें नहीं

बनाया ? उनका कहना यह था कि ब्रह्मा की बनायी वस्तु में कोई न कोई कमी रह ही जाती है, पर इनमें तो कोई कमी नहीं दिखायी दे रही है, इसी से लगता है कि ब्रह्मा ने इन्हें नहीं बनाया। और आगे इन ग्राम-वधूटियों ने कहा--

इन्हहि देखि बिधि मन अनुरागा।
पटतर जोग बनावै लागा।।
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए।
तेहिं इरिषा बन आनि दुराए।। २।११९।५-६

--'इनको देखकर ब्रह्मा का मन मुग्ध हो गया और वह इनके जैसा दूसरे स्त्री-पुरुष बनाने लगा। उसने बहुत परिश्रम किया, पर बनाते न बना, इसीलिए ईर्ष्या के मारे इनको जंगल में लाकर छिपा दिया है।' यह थी ग्रामीण स्त्रियों की अनुराग की भाषा। जनकपुर की स्त्रियों ने भगवान् राम को देखकर कहा था---

सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती। १।२१९।५

--'सखियो, इन्होंने तो करोड़ों कामदेव की छबि को जीत लिया है।' और इन गँवारिनों ने कहा---

कोटि मनोज लजावनिहारे। २।११६।१

--'इनके सामने करोड़ों कामदेव लज्जित हो गये!' अब नगर की और गाँव की स्त्रियों के कथन में अन्तर पड़ गया न! वह क्या? जनकपुर की स्त्रियों ने कहा कि इन्होंने करोड़ों कामदेव की छबि जीत ली। इसका अर्थ यह कि इनमें और काम में युद्ध हुआ और ये जीत गये। पर गाँव की स्त्रियों का तात्पर्य यह था कि इनको देख काम सामने

आया ही नहीं, फिर युद्ध होने और जीतने का प्रश्न उठता कहाँ है? यह कितनी मनोरम कल्पना है कि काम सामने आता ही नहीं। राम को देखकर काम के न आने की बात कितने ऊँचे सिद्धान्त की है! जनकपुर की स्त्रियों की कामना यह है——

बारहि बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय।
लेन आइहहिं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय ॥ १।३१०

बिबिध भाँति होइहि पहुनाई।
प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥
तब तब राम लखनहि निहारी।
होइहहिं सब पुर लोग सुखारी ॥ १।३१०।१-२

——विवाह के बाद सीताजी कभी कभी जनकपुर आएँगी, तो उन्हें ले जाने के लिए ये दोनों भाई भी आएँगे। तब उनके दर्शन होते रहेंगे। जनकपुर की स्त्रियों की कामना है कि कभी कभी प्रभु के दर्शन होते रहें। और गाँव की स्त्रियों की कामना क्या है? एक वधूटी ने कहा——ब्रह्मा से यदि कभी वरदान मिले, तो हम एक ही वरदान माँगेगी, वह यह कि——

जौं माँगा पाइअ बिधि पाहीं।
ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं ॥ २।१२०।५

——'हम इन्हें आँखों में ही रखे रहें!' उसका तात्पर्य यह है कि कभी कभी के दर्शन से क्या होगा, ये तो निरन्तर नेत्रों में रखने योग्य हैं। तो, अनुराग की सजीवता और दिव्य रस के द्वारा भक्ति के सामीप्य से ईश्वर की अनुभूति का जो

रसास्वादन इन ग्रामीण स्त्रियों ने कराया, वह जनक जैसे तत्त्वज्ञ को ब्रह्मानुभूति से तनिक भी कम नहीं। अनुराग और विराग दोनों के माध्यम से ईश्वर की पूर्णता का अपूर्व परिचय हमें यहाँ प्राप्त होता है।

०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) जात-पाँत छिपै नहीं

एक बार अकबर बादशाह के दरबार में पाँच साधु आये। जब बादशाह ने उनसे उनकी जाति पूछी, तो उनमें से एक ने फौरन जवाब दिया, "जात-पाँत पूछै नहि कोय।" अन्य चारों ने भी उसके कथन का समर्थन किया, मगर बादशाह को चैन कहाँ? उसने बीरबल से उनकी जाति मालूम करने को कहा।

बीरबल ने दूसरे दिन उन साधुओं को दरबार में बुलाकर उनसे प्रश्न किया, "क्या आप लोग भगवान् को मानते हैं?" "बेशक!" सबने एक स्वर में उत्तर दिया। "तो आप लोग कोई दोहा सुनाएँ," बीरबल ने उनसे कहा।

पहला साधु बोला—— "राम नाम लड्डू गोपाल नाम घी।
जब लगे भूख, घोल-घाल पी॥"

दूसरा साधु बोला—— "रामनाम शमशेर पकड़ ले,
कृष्ण कटारा बाँट दिया।
दया धर्म को ढोल बना ले,
यम का द्वारा जीत लिया॥"

तीसरा बोला—— "साहिब मेरा बानिया,
सहज करे व्यौपार।
बिन डण्डी बिन पालड़े,
तोले सब संसार॥"

चौथा बोला—— "रामझरोखे बैठके,
सबका मुजरा लेय।

जैसी जाकी चाकरी,
ताको तैसा देय ।।"

पाँचवाँ बोला— "जात-पाँत पूछै नहिं कोय ।
हरि को भजै सो हरि का होय ।।"

तब बीरबल ने बादशाह से कहा, "महाराज, पहला साधु ब्राह्मण है, दूसरा क्षत्रिय, तीसरा वैश्य, चौथा शूद्र और पाँचवाँ वर्णसंकर है।" बादशाह ने जब साधुओं से इस सम्बन्ध में पूछा, तो उन्होंने बीरबल का कथन सही बताया। तब बीरबल ने बताया, "कोई भी व्यक्ति अपनी जाति नहीं छिपा सकता। इन्होंने जो दोहे कहे हैं, उनसे ही उनके कर्मों की झलक दिखायी देती है। ब्राह्मण लालची होते हैं, इसलिए ब्राह्मण-साधु के दोहे में 'लड्डू-घी' का उल्लेख आया। इसी प्रकार क्षत्रिय-साधु के दोहे में 'शमशेर, कटार और ढाल' का तथा वैश्य के दोहे में 'डण्डी और पलड़े' का उल्लेख था। यही बात शूद्र साधु की है, जिसके दोहे में 'चाकरी' और 'मुजरा' शब्द आये हैं। रहा पाँचवाँ साधु, तो वह वर्णसंकर होने के कारण अपनी जाति छिपाना चाहता है, इसीलिए 'जात-पाँत पूछै नहिं कोय' की रट लगा रहा है।" बीरबल की चतुराई से बादशाह खुश हो गया।

(२) त्याग को भूषण शान्ति पद

विजय के गर्व से चूर सिकन्दर ईरान की सड़कों पर जा रहा था। भयभीत नागरिक झुक-झुककर अभिवादन कर रहे थे। इतने में उनके सेनापति ने कहा, "जहाँपनाह, यहाँ पास ही कोई त्यागी महात्मा रहते हैं।" सिकन्दर ने

आदेश दिया "जाओ, उसे बुला लाओ।"

सेनापति उस साधु-महात्मा के पास गया और उसने बादशाह का आदेश कह सुनाया। इस पर महात्मा बोला,

"बादशाह दुनियाँ के हैं मुहरें मेरे शतरंज के।
दिल्लगी की चाल है सब शर्तें सुलहो-जंग के॥

——जाओ, बादशाह से कहो, वह खुद ही आए।" यह सुन सेनापति घबड़ा गया, बोला, "यदि आप न जाएँगे, तो बादशाह आपको मार डालेंगे।" इस पर महात्मा ने पूछा, "क्या तुम दिग्विजयी का अर्थ जानते हो!" "हाँ महाराज, सारे जगत् को जीतनेवाला," सेनापति ने उत्तर दिया। महात्मा ने आगे प्रश्न किया, "बादशाह कितने लाख मन भोजन नित्य करता है?" "बादशाह दूसरे मनुष्यों की तरह केवल आध सेर ही रोज खाते हैं। वे लाख मन कैसे खा सकते हैं?" सेनापति ने जवाब दिया। "तब तो तुम्हारे बादशाह से जंगल के वृक्ष ही अच्छे, जो किसी को कष्ट नहीं देते, बल्कि उपकार करते हैं," महात्मा बोला। सेनापति ने सिकन्दर के पास जाकर सारा हाल कह सुनाया। सिकन्दर जान गया कि यह कोई पहुँचा हुआ महात्मा है। वह तुरन्त उसके पास गया और उसके चरणों पर गिरकर हाथ जोड़े बोला, "समस्त संसार पर विजय पानेवाला सिकन्दर, जिसके चरणों पर चक्रवतियों के मुकुट गिरते हैं, आज आपकी शान्ति के सामने हाथ जोड़े खड़ा है, क्योंकि उसे अपनी भूल मालूम हो गयी है।"

(३) दुर्बल को न सताइए

बगदाद के बादशाह हारूँ-अल-रशीद ने प्रजा पर 'नमक-कर' लगाया और नगर में डौंडी पिटवायी कि हर नागरिक को अपनी आय की पच्चीस प्रतिशत राशि नमक-कर के रूप में बादशाह के खजाने में जमा करनी होगी। नगर में हाहाकार मच गया, मगर बादशाह के आदेशों का उल्लंघन करने की किसी में हिम्मत नहीं थी।

दूसरे ही दिन एक गरीब किसान बादशाह के पास आया और उसने विनम्र शब्दों में कहा, "जहांपनाह, धृष्टता क्षमा करें, यदि आप नमक-कर लगाने का प्रयोजन बता सकें, तो मेरा समाधान हो सकता है।"

"अवश्य," बादशाह बोला, "सुनो, मेरी प्रजा मेरे बच्चों जैसी है। मैं तुम सबकी रक्षा एक पिता के समान करता हूँ। तुम पर जब भी कोई आपदा आती है, मैं चिन्तित हो जाता हूँ। तुम्हारी भूख का शमन करने के लिए तुम्हारे भोजन की व्यवस्था करता हूँ। यानी तुम्हारी सुख-सुविधा का मैं बराबर ख्याल रखता हूँ। और बेटे, इन सब बातों के लिए पैसों की आवश्यकता पड़ती है या नहीं? बस इसीलिए मैं तुमसे अल्प मात्रा में नमक-कर ले रहा हूँ। क्यों बात ठीक है न?"

किसान बोला, "जहांपनाह, आप ठीक कहते हैं। मुझे विश्वास हो गया है कि आप जो यह कर लगा रहे हैं, वह हमारी भलाई के लिए ही है। मुझे भी इससे सीख मिल गयी है। अब मैं भी इसका प्रयोग अपने घर में करूँगा।"

"वह कैसे ?" बादशाह ने पूछा। किसान ने जवाब दिया, "गरीबपरवर, मैंने एक कुत्ता पाल रखा है। मुझे उसका बराबर ख्याल रहता है। जब भी उसे चोट वगैरह लगती है, मैं अपने बच्चे की तरह उसकी सेवा-शुश्रूषा करता हूँ; भूख लगती है तो उसे रोटी देता हूँ। मगर जब कल सुबह भूख लगने पर वह मेरे तलुवे चाटेगा, तो मैं उससे कहूँगा—'मेरे बेटे, तू भूखा है इसका मुझे एहसास है। ठहर, मैं इसका इन्तजाम करता हूँ।' और फिर एक छुरी लाकर उससे उसकी पूँछ का एक छोटा टुकडा काटकर उसके सामने रखूँगा और कहूँगा—'मेरे बेटे, मैं तेरी रक्षा अपने बच्चों के समान करता हूँ। मुझे तेरी भलाई का हमेशा ख्याल रहता है, इसीलिए तेरी पूँछ का छोटा-सा टुकड़ा काटकर तुझे दिया है। तू इसे खा और सन्तुष्ट हो जा'।"

यह सुनते ही बादशाह को अपनी गलती महसूस हुई और उसने दूसरे दिन ही नमक-कर उठा लिया।

(४) सब धन धूरि समान

एक बार महाराणा रणजीतसिंह के दरबार में एक महात्मा आया। उन्होंने उसका आदर-सत्कार किया और वे उसे अपने कोषागार में ले गये। जब उन्होंने उसे हीरे, पन्ने, मोती, नीलम आदि बहुमूल्य रत्नों का संग्रह दिखाया, तो महात्मा ने पूछा, "इन पत्थरों से आपको कितनी आय प्राप्त होती है ?"

"इनसे आय कैसी ?" रणजीतसिंह ने जवाब दिया,

"बल्कि इनकी रक्षा के लिए मुझे काफी धन व्यय करना पड़ता है।"

"तब ये कीमती कहाँ रहे ?" महात्मा बोला, "मैंने तो इनसे भी कीमती पत्थर देखा है।" "अच्छा !" राजा को आश्चर्य हुआ, वे बोले "क्या आप मुझे वह कीमती पत्थर दिखाने ले चलेंगे ?" "अवश्य, अभी चलो," महात्मा बोला और वह उन्हें पास के एक ग्राम में ले गया। सामने ही एक कुटिया थी। उन्होंने जब कुटिया में प्रवेश किया तो अन्दर एक बुढ़िया पत्थर की चक्की से गेहूँ पीसती दिखायी दी। महात्मा बोला, "महाराज, यही वह कीमती पत्थर है। आपके सारे पत्थर ज्यों के त्यों पड़े हैं, मगर यह पत्थर इस बुढ़िया की जीविका का आधार है। इसी के जरिये वह अपना पेट भरती है। इस कारण निस्सन्देह वह उनसे कीमती है !"

(५) सर्वे भवन्तु सुखिनः

प्रियदर्शी सम्राट् अशोक का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था, इसलिए सभी प्रान्तों के शासक उत्सव में शामिल होने के लिए पधारे थे। सम्राट् ने घोषणा की, "आज के शुभ अवसर पर सर्वश्रेष्ठ शासक को पुरस्कृत किया जाएगा।" जब राजा ने सभी शासकों से उनके प्रान्तों का हाल पूछा, तो उत्तरी सीमान्त का शासक बोला, "महाराज, इस वर्ष मेरे देश की आय तिगुनी हो गयी है।"

दक्षिण के प्रान्तपति ने बताया, "इस वर्ष मेरे कोषागार में पिछले वर्ष की तुलना में दुगुना स्वर्ण एकत्र हुआ है।"

पूर्व प्रान्त के शासक ने सूचना दी, "पूर्वी सीमान्त के उपद्रवियों का मैंने सफाया कर दिया है। अब किसी में हिम्मत नहीं कि वह सिर उठाए।"

पश्चिमी प्रान्त के शासक ने बड़े गर्व से बताया, "मैंने सारे सेवकों के वेतन घटा दिये हैं। प्रजा पर कर बढ़ा दिये हैं, इससे आय कई गुना बढ़ गयी है। अगले वर्ष के लिए आय के नये स्रोत खोजने का विचार है।" इसी प्रकार अन्य शासकों ने दूनी-तिगुनी आय होने की सूचना दी।

अब बारी मगध के प्रान्तीय शासक की थी। उसने विनम्र स्वर में कहा, "महाराज, क्षमा करें! "इस वर्ष तो मेरे प्रान्त में पिछले वर्ष से आधा ही धन जमा हुआ है।" "वह क्यों?" राजा ने पूछा। उसने जवाब दिया, "इस वर्ष राजसेवकों को कुछ सुविधाएँ दी गयी हैं, इससे वे निष्ठा, ईमानदारी और परिश्रम से कार्य करते हैं। मैंने नागरिकों के भी कई कर घटा दिये हैं। वर्ष के अन्त तक उनके लिए और भी धर्मशालाएँ, चिकित्सालय और पाठशालाएँ खोलने का विचार है।"

सम्राट् तुरन्त उठ खड़े हुए और बोले, "मुझे प्रजा के रक्त से सनी स्वर्ण-राशियाँ नहीं चाहिए। मेरी इच्छा है कि प्रजा सुखी रहे तथा उसे सुख-सुविधाएँ मिलती रहें। इस कारण सर्वश्रेष्ठ शासक मगध के शासक हैं और पुरस्कार पाने के अधिकारी वही हैं!"

(६) सुखस्य मूलं धर्मः

फारस के बादशाह नौशेरवाँ-ए-आदिल अपनी न्याय-

प्रियता एवं दयालुता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके पिता कोबाद अपना पारसी धर्म त्यागकर मजदक नामक एक पाखण्डी द्वारा चलाये गये मजदकी धर्म के अनुयायी हो गये थे। इस धर्म का सिद्धान्त था—संसार की हर चीज का सृष्टिकर्ता ईश्वर होने के कारण किसी भी वस्तु पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं हो सकता, बल्कि हर एक का समान हक है। परिणाम यह हुआ कि राज्य में अशान्ति और अव्यवस्था फैल गयी, जिस पर काबू करना कोबाद के बस की बात न थी। फल यह हुआ कि इसी चिन्ता में वे इस संसार से चल बसे।

गद्दी खाली होने पर सरदारों ने नौशेरवाँसे गद्दी सम्हालने की विनती की, किन्तु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उन्हें अशान्ति और अव्यवस्था वाला राज्य नहीं चाहिए, इसके बदले वे सादगी से निर्धनतापूर्ण एवं धार्मिक जीवन बिताना पसन्द करते हैं। सरदारों के बहुत आग्रह करने पर नौशेरवाँ राज्य का कारोबार सम्हालने को राजी हो गये, किन्तु उन्होंने शर्त रखी कि प्रजा को उनके आदेशों का पालन करना होगा।

एक दिन दरबार लगा हुआ था कि एक व्यक्ति ने बादशाह से फरियाद की कि एक मजदकी ने उसकी पत्नी का अपहरण कर लिया है। बादशाह ने उस मजदकी को बुलवाया। पूछने पर उसने अपने धर्म के सिद्धान्त को दुहराते हुए कहा कि उस स्त्री पर किसी एक का हक नहीं हो सकता। इस पर बादशाह बोला, "हम ऐसे धर्म को

धिक्कारते हैं, जो लूटमार और अन्याय की शिक्षा देता है। मैं इस राज्य में ऐसे धर्म को चलने नहीं दूँगा।"

यह सुनते ही वह दुष्ट क्रोधित होकर बोला, "जहां-पनाह, जिस धर्म को हजारों लोग मानते हैं, उसे आप कैसे नष्ट कर सकते हैं ? यह तो ईश्वर के प्रति अन्याय होगा।" इस पर नौशेरवाँ बोले, "ईश्वर के प्रति अन्याय किस धर्म और किस कर्म से होता है, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तुमने अन्याय किया है और इसे स्वीकार भी कर लिया है, इसलिए मैं तुम्हें प्राणदण्ड की सजा सुनाता हूँ।" इतना ही नहीं, उन्होंने धर्म के नाम पर लूटमार करनेवाले हर मजदीकी को कारागार में डाल दिया तथा जिसकी जो भी वस्तु छीनी गयी थी, उसे उसके मालिक को लौटा दिया। न्याय और सुव्यवस्था के कारण राज्य में सुख और शान्ति फैल गयी।

●

जैसी जिसकी भावना, वैसी उसकी प्राप्ति। भगवान् कल्पवृक्ष के समान हैं। उनसे जो कुछ प्रार्थना की जाती है, वही प्राप्त होता है। गरीब का लड़का हाइकोर्ट का जज बनकर समझता है--'मैं बड़ी अच्छी तरह से हूँ।' भगवान् भी तब कहते हैं, तुम अच्छी तरह से ही रहो। फिर पेन्शन लेकर घर में बैठता है, तब सोचता है—इस जीवन में मैंने क्या किया ? भगवान् भी तब कहते हैं, हाँ, ठीक ही तो है, तुमने किया क्या ?

--श्रीरामकृष्ण

भारत को विवेकानन्द की देन

डॉ० करण सिंह

(भारत के भूतपूर्व केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री डॉ० करण सिंह वर्तमान में संसद-सदस्य हैं। लखनऊ-स्थित रामकृष्ण मिशन के सुबृहत् विवेकानन्द पालीक्लीनिक के प्रांगण में स्वामी विवेकानन्द की भव्य मूर्ति के अनावरण के अवसर पर उन्होंने १७ अप्रैल, १९७७ को जो हिन्दी में भाषण दिया था, वही प्रस्तुत लेख के रूप मे प्रकाशित है।--स०)

मानव-इतिहास में बड़ी बड़ी संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं, पर भारतीय संस्कृति की अपनी एक विशिष्टता रही है, और वह यह कि उसके हजारों वर्ष के इतिहास में अतीत के साथ उसका सम्बन्ध आज तक अटूट बना हुआ है। जैसे गंगा हिमालय की गोद से निकलकर निरन्तर सागर की ओर बहती जाती है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति और सभ्यता हजारों वर्ष से अटूट चली आ रही है। विश्व में और भी संस्कृतियाँ थीं--मिस्र की, यूनान की, दक्षिण अमेरिका की, लेकिन वे सब काल के गह्वर में जाने कहाँ लुप्त हो गयीं और आज उनका मात्र कुछ कुछ निशान ही कहीं कहीं मिलता है। वे संस्कृतियाँ आज जीवित नहीं हैं। एकमात्र भारतीय संस्कृति ही ऐसी है, जो जीवित है, यद्यपि भारतवर्ष ने भी बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलीं, बड़े बड़े उतार-चढ़ाव देखे। यदि अन्य कोई देश होता, तो उसका नामोनिशान मिट जाता। तो, भारतीय संस्कृति के अन्दर ऐसा कौनसा मंत्र है, जिसने उसे कालजयी बना रखा है ? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, इसका एकमात्र

कारण यह है कि हमारे देश पर जब भी संकट आता है, जब भी हमारी संस्कृति खतरे में पड़ती है, तब इस पवित्र भूमि पर ऐसे महान् स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं, जो अपनी साधना के बल से, अपनी कठोर तपस्या और सिद्धि से उस बुझती हुई ज्वाला को फिर से प्रज्वलित करते हैं और इस प्रकार भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान साधित करते हैं। यदि आप भारतवर्ष का इतिहास देखें, तो पाएँगे कि प्रारम्भ से, वैदिक काल से लेकर आज तक-- चाहे वह उपनिषदों का काल रहा हो या महाकाव्यों का, भगवान् बुद्ध का या भगवान् महावीर का अथवा दक्षिण भारत में होनेवाले शंकर, मध्व, रामानुज आदि महान् आचार्यों का या फिर मध्ययुग में होनेवाले सन्तों का,— इन सभी युगों में देश के हर भाषाभाषी क्षेत्र में इस प्रकार के महापुरुष उत्पन्न हुए हैं। कइयों को हम अवतार मानते हैं, तो कइयों को ऋषि और कइयों को मुनि। इन्हीं महापुरुषों की तपस्या के कारण भारतवर्ष की संस्कृति निर्बाध रूप से बहती चली आ रही है।

आज मैं आपका ध्यान १८५७ ई. के भारत की ओर ले जाना चाहूँगा। उस समय फिर एक महान् संकट इस देश में आया था और लोग समझने लगे थे कि केवल हमारी पराजय ही नहीं हुई है, बल्कि हमारी संस्कृति ही हमारी पराजय का मूल कारण है। लोग-बाग अपनी संस्कृति में आस्था खो रहे थे और ऐसा लग रहा था कि भारतवर्ष की वह महान् कथा जो इतनी शताब्दियों से चली आ रही

है, अब समाप्त होने जा रही है। तब अँगरेजों का शासन था—ऐसा शासन, जिसमें सूर्यास्त नहीं होता था। ऐसा लगने लगा था कि अब भारतीय संस्कृति नहीं बच सकती। लेकिन फिर से वही हुआ, जो अब तक होता रहा था। इस देश में पुनः वह चमत्कार घटित हुआ, जिसने भारतवर्ष एवं भारतीय संस्कृति को आज तक जीवित रखा है। फलस्वरूप, १८५७ से लेकर १९४७ तक इन नब्बे वर्षों के भीतर देश में पुनरुत्थान की एक ऐसी लहर उठी, जिसे लोग 'इण्डियन रेनाँसाँ' के नाम से जानते हैं। इससे हमारी पराजय समाप्त हुई और नये भारत—स्वतंत्र भारत—का उदय हुआ। और आपको यह स्मरण होगा कि सबसे पहले जो पुनरुत्थान हुआ, वह समाज के क्षेत्र में, क्योंकि हिन्दू समाज संकुचित मनोवृत्ति का शिकार हो गया था। इसलिए स्वाभाविक ही सबसे पहले आवश्यक था कि समाज के क्षेत्र में इस प्रकार का सुधार हो, उसमें क्रान्ति हो। राजा राम-मोहन राय को भारतीय पुनरुत्थान, का मसीहा माना गया है। उन्होंने कलकत्ते में 'ब्राह्मसमाज' की स्थापना की और बाद में केशवचन्द्र सेन ने 'ब्राह्मसमाज ऑफ इण्डिया' की। चूँकि बंगाल सबसे पहले अँगरेजों के प्रभाव में रहा था, इसलिए वहीं से पहले प्रतिक्रिया चली और बंगाल ने ही उस समय देश का पथ-प्रदर्शन किया। महाराष्ट्र में भण्डारकर और रानडे ने 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की और उत्तरी भारत में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य

समाज' की। इस प्रकार एक नयी चेतना उत्पन्न हुई। कुछ विदेशियों ने भी इसमें योगदान दिया। मैडम ब्लावाट्स्की और कर्नल आलकाट ने न्यूयार्क में थियोसाफिकल सोसायटी स्थापित की। उन्होंने भारत आकर बहुत प्रशंसनीय कार्य किया। इसी कार प्रो. मैक्समूलर, फर्ग्युसन एवं कनिंघम आदि विदेशियों ने भारतीय संस्कृति के उत्थान में बहुत बड़ा योगदान दिया। यह एक लम्बी पृष्ठभूमि है और इसमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। जब मैंने 'श्री अरविन्द' पर अपना शोधकार्य किया था, उस समय १९वीं शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष की जो स्थिति थी, उसके बारे में पढ़ने का मुझे अवसर मिला था। पर आज इस अवसर पर तो मैं केवल यही कहूँगा कि ये सब जो आन्दोलन हुए, वे अपनी जगह पर ठीक ही थे, लेकिन आवश्यकता थी हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म के भीतर एक क्रान्ति की। और वह क्रान्ति आयी एक ऐसे महापुरुष के अवतरण से, जिसकी तुलना करना, मैं समझता हूँ, भारतीय इतिहास में कठिन होगा। वे थे श्रीरामकृष्ण परमहंस। सन् १८३६ में उनका जन्म हुआ। केवल पचास वर्ष वे इस संसार में रहे, लेकिन वे एक ऐसे अद्भुत व्यक्ति थे कि अपनी कठोर तपस्या और सिद्धियों के फलस्वरूप वे अन्धकाराच्छन्न भारतवर्ष के प्रकाशस्तम्भ बने। उनके चरणों में हजारों पढ़े-लिखे लोग, बुद्धिजीवी लोग आकर बैठे। और इस प्रकार एक व्यक्ति की तपस्या और साधना के कारण इस देश की विचारधारा को नयी

दिशा मिली। वे उन महर्षियों में से थे, जो संकट के समय भारतवर्ष में उत्पन्न होते हैं और जिनकी साधना से, जिनके आन्तरिक प्रकाश से न केवल उनका युग बल्कि हमेशा के लिए सारा इतिहास जगमगाता रहता है। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कई लोगों को अपनी ओर खींचा। उनमें प्रमुख नरेन्द्रनाथ दत्त थे, जिन्हें सारा संसार स्वामी विवेकानन्द के नाम से जानता है। आज भी स्वामी विवेकानन्द का नाम भारतवर्ष में और उससे बाहर सर्वत्र बड़े आदर के साथ लिया जाता है। और आज मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि मैं इस शुभ अवसर पर यहाँ आया। मैं स्थानीय रामकृष्ण मिशन के प्रमुख को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने ऐसे पुनीत अवसर पर मुझे याद किया, जिससे मैं इस पवित्र उत्सव में स्वामीजी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उपस्थित हो सका।

आप जानते हैं कि हम हिमालय की गोद में रहनेवाले लोग हैं, उस हिमालय की, जिसका कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

> अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
> हिमालयो नाम नगाधिराजः।
> पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
> स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

हम उस हिमालय के रहनेवाले हैं, जिसने हमेशा इस देश को प्रेरणा दी। हमें प्रसन्नता है कि आज इस भव्य मूर्ति के अनावरण के समय हमें यहाँ उपस्थित होने का सौभाग्य

प्राप्त हुआ। श्रीरामकृष्ण तो इस संसार में पचास वर्ष रहे और स्वामी विवेकानन्द केवल उनतालीस वर्ष, लेकिन कैसा अद्भुत था उनका जीवन! आप तो सब जानते हैं उनके जीवन की कथा, उनका बचपन और यह भी कि क्या क्या कठिनाइयाँ उन्हें सहनी पड़ीं। फिर वह ऐतिहासिक घड़ी, जब दक्षिणेश्वर में उनकी श्रीरामकृष्ण से भेंट हुई। किस प्रकार वे अपने गुरु से प्रभावित्त हुए, गुरु के चरणों की उन्होंने सेवा की और श्रीरामकृष्ण के देहान्त के बाद एक परिव्राजक के रूप में सारे भारत में भ्रमण किया। १८९३ में शिकागो में World Congress of Religions (विश्वधर्मसम्मेलन) हुआ। और जब स्वामी विवेकानन्द वहाँ निमंत्रित होकर मंच पर खड़े होते हैं, तो पहली बार सारा संसार आश्चर्यचकित रह गया कि जिस देश को वे गुलाम और पतित मानते थे, उस देश की वाणी कितनी ओजस्वी और शक्तिदायक है। स्वामी विवेकानन्द ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विदेश में जाकर भारतीय संस्कृति का आख्यान किया और उस दिन से भारत का एक नया युग प्रारम्भ हुआ। वे अमेरिका में रहे, विलायत में रहे, और फिर लौटकर उन्होंने पुनः भारत के दर्शन किये। पहली बार भारत-दर्शन के लिए वे अकेले चले थे——एक डण्डा लेकर, परिव्राजक के रूप में भिक्षाटन करते हुए वे घूमे थे। पर इस वार जब वे बाहर से लौटकर आये, तो भारतवासियों ने उनका भव्य

स्वागत किया और उन्होंने कोलम्बो से लेकर काश्मीर तक भ्रमण किया। उन्होंने अपनी शेष आयु भारत के पुनरुत्थान के कार्य में लगा दी। उन्होंने रामकृष्ण मठ और मिशन की स्थापना की। मैं इसे उनके जीवन का एक चमत्कार कहता हूँ कि उन्होंने हिन्दू धर्म को एक विश्व धर्म में परिवर्तित कर सारे संसार के सामने रख दिया।

आज का मानव और समाज एक चौराहे पर खड़ा है। साइन्स और तकनीकी ज्ञान ने उसे बड़ी शक्ति दी है। यदि उसका सदुपयोग किया जाय, तो बहुत असाधारण लाभ पहुँच सकता है। बीमारी दूर हो सकती है, गरीबी दूर हो सकती है, बेरोजगारी दूर हो सकती है, लोगों का जीवन-स्तर सुधर सकता है; लेकिन उस शक्ति का यदि दुरुपयोग किया जाय, तो ऐसा महाप्रलय होगा, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज हम चौराहे पर खड़े हैं और हमें ऐसा लगने लगा है कि मानवीय चेतना के विशाल समुद्र का मन्थन होने लगा है। जहाँ भी आप जायँ, प्राचीन मान्यताएँ टूट रही हैं। मानव नवीन की खोज में निकला हुआ है और आज की पीढ़ी अपने आपको अतीत और भविष्य के बीच झूलती पाती है। आपको उस पौराणिक कथा का स्मरण होगा, जब समुद्र-मन्थन हुआ था। उससे बहुत से रत्न निकले थे, लेकिन रत्नों से पहले विष निकला था। जब महादेवजी ने विष का पान किया, तब कहीं वे रत्न निकले और तब अन्त में देवता अमृत का पान कर सके। आज फिर से समुद्र-मन्थन हो रहा है, मानवीय

चेतना का मन्थन हो रहा है और आज फिर से वह विष निकल रहा है—मानव की कमजोरी, निर्बलता और संकुचित मनोवृत्ति का विष हमारे सामने आ रहा है। प्रश्न यह है कि क्या आज भी, इस नये युग में, शिवजी इस विष को ग्रहण करने के लिए आएँगे ? प्रजातंत्र के युग में प्रत्येक व्यक्ति को विष का पान करना होगा, तब कहीं मन्थन से निकले हुए रत्न और अमृत मानवजाति के सामने आएँगे। ऐसी स्थिति में जो पथ-प्रदर्शक रहे हैं, विशेषकर जो आधुनिक युग के महाऋषि रहे हैं—जैसे श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द,—उनके पथ-प्रदर्शन से मानवजाति बहुत कुछ सीख सकती है।

स्वामीजी ने तो बहुत सी बातों पर लिखा है और बोला है। मैं आपके सामने केवल दो-चार विचार संक्षेप में रखना चाहता हूँ। उन्होंने जो बातें कही थीं, वे नयी नहीं थीं; वे हमारे सनातन धर्म में थीं, लेकिन लुप्त हो गयी थीं। उन्होंने उन रत्नों को समुद्र से निकालकर हमारे सामने रखा। उन्होंने सब धर्मों की एकता, सर्वधर्मसद्भाव पर बल दिया। धर्म के नाम पर जो विरोध होता था, अधर्म और जुल्म होता था, उसका विरोध स्वामीजी ने किया। उन्होंने वेदान्त के वाक्य अपनी बात के समर्थन में दुहराये। ऋग्वेद का वाक्य है—'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति'—सत्य एक है, उसके समझने के अलग अलग तरीके हो सकते हैं। मुण्डक उपनिषद् कहता है—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा

विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।'
---जिस प्रकार नदियाँ और नाले अलग अलग स्थान से उत्पन्न होते हैं, लेकिन फिर एक सागर में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जितने धर्म और मत हैं, उनके उत्पन्न होने का स्थान, उनका लक्ष्य, उनकी मंजिले-मकसूद अलग अलग नहीं । यही बात स्वामीजी ने हमें फिर से बतायी । श्रीराम-कृष्ण ने अपनी साधना के द्वारा यह बता दिया था कि चाहे मुसलमान हो या ईसाई, बौद्ध हो या जैन, ये अलग अलग मार्ग से एक ही स्थान पर पहुँचते हैं । अपने गुरु का यही सन्देश स्वामीजी ने फिर से इस देश को दिया ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात स्वामीजी की यह थी कि उन्होंने मानव की दिव्यता पर बड़ा जोर दिया । भगवान् की दिव्यता या किसी देवता की दिव्यता कोई बड़ी बात नहीं है । बड़ी बात तो तब है, जब मानव में भी यह दिव्यता हो । स्वामीजी ने हमेशा यह कहा कि मानव की सेवा करना भगवान् की पूजा करने के बराबर है । उन्होंने हिन्दू समाज के कुसंस्कार को दूर करना चाहा । कहाँ एक हजार वर्ष पहले का भारत जब देश-देशान्तर में, दक्षिण-पूर्व एशिया में उसने अपने धर्म के दूत भेजे थे, अपनी संस्कृति और सभ्यता भेजी थी और कहाँ हम आज इतने संकुचित हो गये थे कि जो विदेश में जाता था, उसे प्रायश्चित्त के बिना भोजन नहीं दिया जाता था, समाज में स्वीकारा नहीं जाता था ! कहाँ हमारी वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परम्परा, जो समस्त मानवजाति को एक लपेटे में ले लेती थी, और कहाँ

यह कि इसे छूने से तुम्हारा धर्म जाता है,' 'इसके साथ खाने से तुम्हारा धर्म बिगड़ता है ! स्वामीजी इसे 'किचन रिलीजन'—'लंगर का धर्म' कहते थे । वे कहा करते कि अगर तुम्हारा धर्म इतना कमजोर है कि किसी के साथ खाने से या बैठने से टूट जाता है, तो अच्छा है जितनी जल्दी हो सके वह टूट जाए; क्योंकि जो धर्म इतना निर्बल है कि किसी के छूने से खराब हो जाए, वह सनातन धर्म नहीं है, वह सनातन धर्म की तौहीनी है, उसका विरोध है । स्वामीजी ने यह बात डंके की चोट पर कही और उन्होंने देश को इस मामले में एक नयी दिशा दी।

मानव की दिव्यता के साथ ही स्वामीजी ने समाज की सेवा की बात जोड़ दी थी । हिन्दू धर्म में यह दोष आ गया था कि हम धर्म के क्षेत्र में भी स्वार्थी बन गये थे । हमें बस अपनी मुक्ति चाहिए, भले संसार रसातल में जाए। हमें दूसरों की कोई परवाह नहीं थी । स्वामीजी ने हमें आगाह किया कि सनातन धर्म का ऐसा विचार कभी नहीं रहा। उन्होंने सनातन धर्म के सच्चे स्वरूप को प्रकट करते हुए हमें सन्देश दिया—'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'— अपने मोक्ष के लिए कार्य करो, लेकिन जगत् की सेवा करो। स्वामीजी ने प्रथम बार हिन्दू समाज में रामकृष्ण मिशन के माध्यम से सुधार का कार्य एक व्यापक स्तर पर किया, और उसका उदाहरण यह चिकित्सालय भवन है, जिसमें मैं

आज बोल रहा हूँ। रामकृष्ण मिशन के अस्पताल और चिकित्सालय मैंने वृन्दावन में, कलकत्ते में और अन्यत्र देखे हैं। रामकृष्ण मिशन केवल इस देश में नहीं वरन् सारे संसार में समाज-सेवा की यह नयी भावना ले गया। हमारे धर्म की एक बड़ी कमजोरी स्वामीजी ने दूर की और उन्होंने विगत हज़ार वर्ष में पहली बार यह सेवा का भाव हमारे देश को दिया।

फिर, स्वामीजी का भारतवर्ष के प्रति अनन्य प्रेम था। कन्याकुमारी के आगे जो चट्टान है, आपने सुना होगा वहाँ आज एक बड़ा सुन्दर मन्दिर बना हुआ है। स्वामीजी अमेरिका जाने से पहले उस चट्टान पर गये थे और वहाँ पर बैठकर उन्होंने भारतवर्ष की एक कल्पना की थी। तब भारतवर्ष का एक नया दृश्य उनकी आँखों के सामने तैर गया था। कहाँ उस समय का भारत, विदेशियों द्वारा शासित, जहाँ 'वन्देमातरम्' कहना जुर्म था, जहाँ लोग अपनी सभ्यता और संस्कृति को भूल गये थे और कहाँ स्वामीजी के मानसपटल पर उभरा नया भारत—एक उज्ज्वल भारत, जो फिर से संसार का गुरु कहलाएगा, जिसके ज्ञान का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड में फैल जाएगा! भारतमाता को इसी गरिमामय पद पर पुनः प्रतिष्ठित करने का संकल्प लेकर स्वामीजी उस चट्टान पर से उठे थे।

स्वामीजी शक्ति के उपासक थे। सत्य सम्बन्धी उनकी धारणा भी शक्तिपरक थी। सत्य की कसौटी बताते हुए उन्होंने कहा था—जो चीज तुम्हें निर्बल बनाती है

उसे विष की भाँति त्याग दो, वह सत्य नहीं हो सकती। सत्य वह है, जो शक्ति देता है—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति। उन्होंने कहा कि भारत का पतन निर्बलता के कारण हुआ है। वे कहते थे कि हमें 'मानव' चाहिए, हमें ऐसी युवा पीढ़ी चाहिए, जो चट्टानों के साथ टकरा सके। उन्होंने राष्ट्र को ऐसा आह्वान दिया कि सारा भारतवर्ष उठकर खड़ा हो गया और एक नयी लहर इस देश में फैल गयी। पर यह मैं बता दूँ कि स्वामीजी केवल अपने देश का ही उत्थान नहीं चाहते थे—अपने देश से तो सभी प्रेम करते हैं,—उनके सामने तो सारे विश्व का भविष्य था। वे कहते थे कि अगर भारतवर्ष उठेगा, तो समस्त विश्व के गुरु के रूप में उठेगा, सारे विश्व को सनातन धर्म का प्रकाश देने के लिए उठेगा, क्योंकि आज विश्व को इस धर्म के, अध्यात्म के प्रकाश की आवश्यकता है।

तो, आज फिर से हमारे देश ने एक नया मोड़ लिया है। आज जब मानव पृथ्वी छोड़कर चन्द्रमा तक पहुँच गया है और चाँद से भी आगे ब्रह्माण्ड में जा रहा है, तब अपने देश में पुरानी रूढ़िवादी विचारधारा नही चलेगी। आज हमें ऐसे विचार चाहिए, जो प्रगतिशील हैं, शक्तिदायक हैं और जिनकी जड़ें हमारे प्राचीन अतीत में समायी हुई हैं। इनको लेकर हम भविष्य की ओर बढ़ें। आज हमें एक ऐसा धर्म चाहिए, जिसमें कोई संकुचित विचार न हो, जो प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी धर्म या दल

का हो, एक सूत्र में पिरोये। मैं आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि स्वामी विवेकानन्द जैसे विशाल हृदय और विशाल विचार के ऋषि ने देश को जो मार्ग दिखाया है, उस पर यदि हम चलें, तो उनकी कल्पना को साकार कर सकते हैं। मेरे पीछे स्वामीजी की यह विशाल मूर्ति खड़ी है। जिस प्रकार स्वामीजी के विचार विशाल थे, जिस प्रकार उनकी आध्यात्मिक शक्ति विशाल थी, उसी प्रकार उनकी यह विशाल मूर्ति शिल्पकार ने बनायी है। हमारे सामने कठिनाइयाँ तो आएँगी; लेकिन कठिनाइयों से हमें डरना नहीं है। कोई मानव तब तक विशाल नहीं होता, जब तक कठिनाइयों का सामना कर उन पर विजय नहीं पा लेता। उसी प्रकार कोई देश आगे नहीं बढ़ सकता, जब तक कठिनाइयों के साथ जूझने की उसकी क्षमता नहीं होती। जिस नयी मानवता की खोज में हम निकले हैं, वह कोई सरल रास्ता नहीं। मानवजाति को जिस नयी चेतना की आवश्यकता है, उसे पाने का मार्ग कठिन अवश्य है लेकिन उस कठिन मार्ग पर ही चलकर हमें लक्ष्य तक पहुँचना है।

मैं अपने भाषण की समाप्ति तथा स्वामीजी के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि का अर्पण कठोपनिषद् के उस मंत्र से करता हूँ, जो स्वामीजी को बड़ा प्रिय था और जिसे वे हमेशा दुहराया करते थे और जिसका अर्थ यह है कि हमें उठना है, जागना है, आगे बढ़ना है, छुरी की धार जैसे दुर्गम रास्ते पर से चलना है, क्योंकि और कोई

रास्ता नहीं है, और उसी रास्ते पर से जाकर हमें एक नया मानव, नया देश और नया विश्व बनाना है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।।

•

मनुष्य को भगवान् का स्मरण निरन्तर करते रहना चाहिए और विवेक-ज्ञान की प्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना करनी चाहिए। बिरले ही व्यक्ति जप-ध्यान में स्थित हो सकते हैं। अधिकांश लोग प्रारम्भ में तो बड़ी तत्परता से ध्यान-प्रार्थना में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु सदैव वही करते रहने से मस्तिष्क गरम हो जाता है और वे क्रमशः दम्भ के शिकार हो जाते हैं। कई विषयों पर निरन्तर मनन करते रहने से उनका मन भी चंचल हो जाता है। किसी न किसी काम में रुचि दिखाना मन को भटकाने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। जब मन को कुछ छूट मिलती है, तो वह विशेष उलझनें पैदा करने लगता है। मेरा नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) इन्हीं सब बातों का अनुभव करके मिशन जैसी संस्था की स्थापना में कटिबद्ध हुआ, जहाँ 'नारायण-भाव' से मनुष्य मात्र की सेवा सम्भव हो सके और आध्यात्मिक कल्याण भी सुगम हो सके।

—श्री माँ सारदा देवी

कर्म-सिद्धान्त

(गीताध्याय, २ श्लोक ४७)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।। ४७ ।।

ते (तेरा) अधिकार: (अधिकार) कर्मणि (कर्म में) एव (ही) [है], कदाचन (कभी) फलेषु [कर्म के] (फलों में) मा (नहीं है); कर्मफलहेतु: (कर्मफल-प्राप्ति का हेतु) मा (मत) भू (बन), ते (तेरी) संग: (प्रवृत्ति) अकर्मणि (कर्म न करने में) मा (मत) अस्तु (हो) ।

"तेरा अधिकार कर्म करने में ही है, उनके फलों में कभी भी नहीं । तू कर्मफल-प्राप्ति का कारण मत बन और न तेरी प्रवृत्ति-कर्म न करने में हो ।"

अर्जुन ब्रह्मवेत्ता होना चाहता था । उसने भगवान् कृष्ण से सुना कि जो ब्रह्मज्ञ होता है, वह वेदों में प्रतिपादित समस्त अर्थों का लाभ अनायास कर लेता है । पर वह सोचता था कि इस प्रकार गुणातीत होने के लिए उसे त्रिगुणात्मक वेदों का और फलस्वरूप उनके द्वारा प्रतिपादित कर्मों का त्याग करना पड़ेगा । वह यह चाहता भी था । उसे युद्धरूप घोर कर्म पसन्द नहीं था । अत: वह मन ही मन प्रसन्न होता है कि चलो, अब श्रीकृष्ण मुझे भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह की अनुमति दे देंगे । पर उसे यह अनुमति नहीं मिलती । भगवान् कृष्ण उसे पुन: कर्म में लगने की शिक्षा देते हैं । उनका मन्तव्य यह है कि यह सही है कि वेद त्रिगुणात्मक हैं और जीवन का लक्ष्य निस्त्रैगुण्य है, पर

निस्त्रैगुण्यता की प्राप्ति के लिए जो पात्रता और अधिकार चाहिए, वह कर्म करके ही अर्जित होता है, कर्म छोड़कर नहीं ।

प्रश्न होता है कि कर्म तो त्रिगुणात्मक संसार के अन्तर्गत हैं, उनसे निस्त्रैगुण्यता कैसे प्राप्त होगी ? यह विचित्र बात मालूम होती है कि घोर त्रिगुणात्मक कर्म व्यक्ति को निस्त्रैगुण्य भी बना दे सकते हैं । यह तो समझ में आता है कि व्यक्ति संसार का झमेला छोड़कर जंगल में चला जाय और वहाँ किसी निभृत स्थान में बैठ आत्मस्वरूप के चिन्तन द्वारा मन को निश्चंचल बनाने का और फलस्वरूप गुणों के ऊपर उठने का प्रयास करे, पर यह समझ में नहीं आता कि कर्म के झंझावात में रहकर, तीनों गुणों के भँवर में पड़कर वह उनसे ऊपर उठ जाय । यह एक पहेली लगती है, रहस्य मालूम होता है । भगवान् कृष्ण प्रस्तुत श्लोक के द्वारा इसी पहेली का हल हमारे समक्ष रखते हैं और इस रहस्य का उद्‌घाटन करते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक के चार चरण हैं । लोकमान्य तिलक इस श्लोक को कर्मयोग-सिद्धान्त की चतुःसूत्री कहते हैं । जैसे ज्ञानियों के लिए उपनिषदों में चार महावाक्य प्राप्त होते हैं—(१) अहं ब्रह्मास्मि, (२) तत्त्वमसि, (३) प्रज्ञानं ब्रह्म तथा (४) अयमात्मा ब्रह्म, वैसे ही कर्मयोगी के लिए ये चार चरण हैं । अन्तर यह है कि महावाक्यों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं, जबकि ये चारों चरण एक दूसरे के परिपूरक हैं । प्रथम चरण में कहा गया है— 'तुम्हारा

अधिकार कर्म ही में है'; दूसरे में बताया— 'फलों में तुम्हारा अधिकार किसी भी अवस्था में नहीं', तीसरे में कहा—'तुम कर्मफल का कारण मत बनो, अर्थात् फल प्राप्त करने की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त मत होओ,' और चौथे में निरूपित किया— 'तुम्हें अकर्म के प्रति यानी कर्म न करने के प्रति रुचि मत हो।

यहाँ पर व्याख्याकार 'ते' शब्द को लेकर दो प्रकार की दृष्टियों का प्रतिपादन करते हैं। एक दृष्टि के पक्षधर कहते हैं कि 'ते' शब्द अर्जुन को लक्ष्य करके कहा गया है। पूर्व के दो श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, वह ब्रह्मवेत्ता, निर्द्वन्द्व और निस्त्रैगुण्य संन्यासी के लिए था, पर प्रस्तुत पद्य के प्रथम चरण से भगवान् ने अर्जुन से स्पष्ट कह दिया कि तू अभी निस्त्रैगुण्य अवस्था का अधिकारी नहीं है, तुझे तो कर्म करने का ही अधिकार है। दूसरी दृष्टि के पक्षधर कहते हैं कि 'ते' शब्द जीवमात्र को सम्बोधित करके कहा गया है। भगवान् सभी जीवों को लक्ष्य कर कहते हैं— ऐ जीव, तेरा अधिकार मात्र कर्म करने में है। इससे शंका उठ सकती है कि जो कर्म करेगा, फल भी तो उसी का होगा? जिसका पेड़, उसी का फल। अतः जो कर्मरूप वृक्ष उगाएगा, क्या वही उसके फल का भी भोग नहीं करेगा? भगवान् कहते हैं—नहीं। कर्म तो करो, पर उसके फल पर अधिकार की भावना छोड़ दो, क्योंकि फल तुम्हारे अधिकार की बात ही नहीं है; वह ईश्वर के हाथ की बात है। वैसे भी देखा जाय, तो कर्म

करना मात्र ही मनुष्य के अधिकार में है। किसान के हाथ की बात है उसका परिश्रम, पुरुषार्थ। पर फल? वह उसके अधिकार की बात नहीं है। यदि ईश्वर चाहे, तो किसान के परिश्रम को मटियामेट कर सकता है। बहुत वर्षा करा दी, जलप्लावन ला दिया, फसल चौपट हो गयी; सूखा कर दिया, पानी की एक बूँद न गिरी, फसल सूख गयी। फसल लहलहाती हुई खड़ी है। किसान बड़ा खुश है। १५-२० दिन बाद काटेगा। कितनी उमंग है, इस बार सबसे अच्छी फसल हुई है। लड़की के हाथ पीले कर देगा, बैंक का कर्ज चुकता कर देगा और लड़के-बच्चों के लिए सलीके के कपड़े बनवा देगा। अचानक देखते न देखते एक दिन जोरों से ओलों की वर्षा शुरू हो गयी और चन्द मिनटों में किसान की सारी उमंगों पर भी तुषारापात हो गया! किसान कुछ ही समय पहले कितना हुलस रहा था। लोग उसकी फसल देख जब तारीफ करते, तो वह भी कैसे सीना तानकर कहता—इस बार बीज भी बढ़िया नस्ल का है, साहब, खाद भी अच्छी डाली है, मेहनत भी खूब की है, तभी तो ऐसी अच्छी फसल हुई। पर अब? उसके जीवन में रुदन और हाहाकार, ईश्वर के लिए निन्दा और कटूक्ति ही तो रह गयी।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—ऐ जीव, तू कर्म तो कर, पर फल पर अपना अधिकार मत रख। फल तेरे हाथ की बात नहीं है। वह ईश्वर का अधिकार है, उसे तू क्यों छीनना चाहता है? दूसरे का अधिकार छीनने से

ानुष्य दुःखी ही होता है। विद्यार्थी का अधिकार है ठीक ढ़ाई करने में, अच्छी तरह परचा देने में, पर परचे में अंक ने का अधिकार उसका नहीं, परीक्षक का है। यदि विद्यार्थी ारीक्षक का अधिकार अपने ऊपर लेना चाहे, तो क्या उसे ाह मिलेगा ? वह दुःख ही तो पाएगा। अतः उचित यही ै कि जिसका जो अधिकार है, उसे उसी के पास सुरक्षित रहने दिया जाय।

यह ईश्वर क्या है, जिसके पास फल देने का अधिकार ै? वह है शाश्वत ऋत—धर्म, नियम, Law। इसमें व्यतिक्रम नहीं होता। इस शाश्वत ऋत में विश्व के अनन्त सत्य समाहित हैं, या यों कहें कि अनन्त नियमों ग्रानी सत्यों के पुंज को ईश्वर कहते हैं। संसार के दो पक्ष हैं—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। ये नियम-ुंज जब अपने को बाह्य या भौतिक जगत् में प्रतिफलित करते हैं, तब उनको 'विज्ञान' के नियम कहते हैं और जब उनका प्रतिफलन अन्तर्जगत् में होता है, तो वे 'अध्यात्म' या 'धर्म' के नियम के नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार बाह्य प्रकृति के नियम भी ईश्वर के अंग हैं तथा आन्तर प्रकृति के नियम भी। जो जिस परिमाण में इन नियमों को जानता है, वह उसी परिमाण में शक्तिसम्पन्न होता है। नियमों की अज्ञानता ही गुलामी का दूसरा नाम है। जब मैं किसी मशीन के नियम को जानता हूँ, तो मैं उसे चलाता हूँ और जब नहीं जानता, तो मशीन मुझे चलाती है। मैं मशीन का गुलाम तभी होता हूँ, जब उसके नियमों से अनभिज्ञ रहता हूँ। इसी

प्रकार जब तक हमें संसार में कर्म के नियम नहीं मालूम रहते, हम कर्मों के गुलाम बनकर कष्ट पाते हैं। पर जब हम कर्म के नियमों को जान लेते हैं, तो मुक्ति और आनन्द का भोग करते हैं। यह कर्म का नियम क्या है? वही, जो प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है—कर्म करने का अधिकार तो हमारा है, पर फल का अधिकार हमारा नहीं है। महर्षि गौतम ने भी अपने न्यायदर्शन में कहा है—"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्म-असिद्धे," अर्थात्, कर्म का फल देने में ईश्वर ही कारण है, क्योंकि पुरुष का कर्म कई बार निष्फल देखा जाता है। भगवान् शिव की स्तुति करते हुए पुष्पदन्त भी 'शिव-महिम्नस्तोत्र' में यही भाव व्यक्त करते हुए कहते हैं—

> क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
> क्व कर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
> अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
> श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः॥

—प्रभो, जब क्रतु (एक यज्ञ) सो जाता है यानी समाप्त हो जाता है, तब यज्ञ करनेवालों के साथ फल का सम्बन्ध कराने के लिए तुम जागते रहते हो। यदि कोई कहे कि कर्म तो अपना फल स्वयं दे लेगा, वहाँ ईश्वर की क्या आवश्यकता है? तो उसके उत्तर में पद्य का दूसरा चरण कहता है—कर्म तो उसी समय नष्ट हो जाता है, फिर वह फल देने के लिए कहाँ से आएगा? कर्म तो क्रिया का नाम है, और क्रिया क्षण भर ही रहती है। वह तो उत्पन्न होते ही नष्ट भी हो जाती है और फल तो बाद में मिलता है।

अतः यही मानना पड़ेगा कि हम ईश्वर को कर्मों के द्वारा प्रसन्न करते हैं और वह हमें कर्मों के फल प्रदान करता है। अन्त के दो चरणों में इसीलिए पुष्पदन्त कहते हैं—भगवन्, फलप्रदान के प्रतिभू यानी जिम्मेदार तुम हो, यह देखकर लोगों को श्रुति-वचनों में श्रद्धा होती है और वे कर्म करने के लिए प्रवृत्त होते हैं।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है—तब तो ईश्वर बड़ा निरंकुश और तानाशाह है, जो फल का सारा अधिकार अपने पास रखता है। ऐसा स्वेच्छाचारी ईश्वर न्याय कैसे करेगा? इसके उत्तर में कहा जाता है कि ईश्वर निरंकुश तानाशाह या स्वेच्छाचारी नहीं है, वह बड़ा न्यायी है, उसके न्याय में लेश मात्र भी फर्क नहीं होता। हमने पूर्व में ईश्वर की तुलना एक कम्प्यूटर से की है, जो मनुष्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना का अंकन करता जाता है। एक बार मनुष्य स्वयं अपने मन को समझने में भूल कर सकता है, पर यह ईश्वररूप कम्प्यूटर किसी के मन को समझने में तनिक भी भूल नहीं करता। उसमें संचित इन संस्कारों के अनुरूप ही मनुष्य को अपने कर्म का फल मिला करता है। अपने कर्म-फल के मूल्यांकन में जीव गलती कर सकता है, पर ईश्वर नहीं। ईश्वर जीव की सब बातों को तौलकर समुचित फल प्रदान किया करता है। गीता में ही अन्यत्र (१८/१४) बताया गया है कि जीव के कर्म का फल उत्पन्न करने में पाँच साधन हुआ करते हैं और इन सबके मेल से ही फल मिला करता है। ये हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।

—अधिष्ठान (स्थान), कर्ता, भिन्न भिन्न करण यानी साधन, कर्ता की अनेक प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएँ अर्थात व्यापार तथा पाँचवाँ दैव । ईश्वररूप कम्प्यूटर इन पाँचों साधनों का भलीभाँति मेल कर जीव को उसके कर्मों का फल देता है । अतः ईश्वर को अन्यायी या निरंकुश नहीं कहा जा सकता ।

दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकार फल का अधिकार ईश्वर को सौंपना क्या अदृष्टवादी या भाग्यवादी दृष्टिकोण नहीं है ? और ऐसे दृष्टिकोण से क्या पुरुष का उद्यम शिथिल नहीं हो जाता ? ऐसी ही दृष्टिभंगी के कारण तो देश पतित हुआ और हम अकर्मण्य बनते गये । तो क्या इस दृष्टि का त्याग उचित न होगा ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि फल का अधिकार उसके यथार्थ स्वामी को सौंपना अदृष्टवाद नहीं है, बल्कि वह सत्य को स्वीकार करना है । जब विद्यार्थी अपने परचे की परीक्षा का अधिकार परीक्षक के पास ही रहने देता है, तो वह कोई भाग्यवादी दृष्टिकोण नहीं है । इस दृष्टिकोण का यह अर्थ नहीं कि हम अपने पुरुषार्थ में, अपनी चेष्टा और कर्म में किसी प्रकार की कमी करें, बल्कि वह तो पहला पाठ हमें यही सिखाता है—"कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है ।" इसका मतलब यह हुआ कि हमें कर्म करने की पूरी छूट है । हमें यदि संसार में किसी बात का अधिकार है, तो वह

है कर्म करने का। इससे यही ध्वनित होता है कि हम पूरे उद्यम के साथ कर्म करें, पर यह जान लें कि कर्म का फल हमारे हाथ की बात नहीं। पर जिसके हाथ में फल देने का अधिकार है, वह अत्यन्त निरपेक्ष है, न्यायी है। एक बार हम अपने कर्म का मूल्यांकन करने में गलती कर सकते हैं, पर वह नहीं करता। दूसरी बात यह जान लें कि जब कर्म होगा, तो कर्म के अटल न्याय के अनुसार उसका फल भी प्राप्त होगा। कर्म जितना उत्कृष्ट होगा, उसका फल भी उसी परिमाण में उत्कृष्ट होगा। कर्म की 'क्वालिटी' पर फल की 'क्वालिटी' निर्भर करेगी।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि जब कर्म का फल अनिवार्य है, तब कर्म-सिद्धान्त के तीसरे चरण की क्या उपादेयता है, जिसमें कहा गया है कि हमें कर्मफल का कारण नहीं बनना चाहिए अथवा कर्मफल प्राप्त करने की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए ? हम इच्छा करें या न करें, कर्म तो अनिवार्य रूप से अपना फल देगा ही। भले ही हम अग्नि से जलने की इच्छा न करें, पर यदि हम आग में उँगली डालेंगे, तो वह उँगली को जला ही देगी। और जब जीवन का सत्य यही है कि कर्म करने से ही उसका फल मिलता है, तो उसका भोग क्यों नहीं करना चाहिए ?

ये प्रश्न युक्तिसंगत मालूम होते हैं। यह सत्य है कि कर्म अनिवार्य रूप से अपना फल देता है, पर यह फल वहीं प्राप्त होता है, जहाँ फल पाने की कामना होती

है। जब हम कर्म तो करते हैं, पर फल की कामना नहीं करते, तो फल हमें नहीं प्राप्त होता। कर्म वास्तव में मनुष्य को नहीं बाँधता; यह उसका फल है, जो मनुष्य के बन्धन का हेतु होता है। ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य को कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए। पर वह कर्म किस प्रकार करे? भगवान् को सब में विराजित देख अपनी हर क्रिया को उनकी सेवा मानकर करे, इससे 'न कर्म लिप्यते नरे'— नर को कर्म का लेप नहीं होगा। वस्तुतः फलासक्ति में ही लेप है, कर्म में नहीं। इसीलिए प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों में कहा गया—कर्म करो, क्योंकि कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, पर फल पर अपना प्रभुत्व मत मानो, क्योंकि फल का अधिकार तुम्हारा नहीं है।

जीवन में यह एक बड़ा पाठ है कि फल हमारे अधिकार की बात नहीं है। यह सत्य हमारे मानसिक विक्षोभ और तनाव को कम करेगा। यह सत्य जितनी मात्रा में हमारे रक्त के साथ घुल-मिलकर बहेगा, उतनी मात्रा में हमारा मन शान्त भाव धारण करेगा। जो फल कामी है, फल पाने के लिए कर्म करता है, उसके लिए यह एक व्यावहारिक पाठ है। हममें से प्रायः ९९·९९ प्रतिशत लोग फलकामी ही होते हैं, अतः उस सन्दर्भ में हमें इस श्लोक को समझना है। सभी फल का त्याग नहीं कर सकते सभी मानवमात्र की सेवा हेतु अपना जीवन नहीं खपा सकते। ऐसे मुमुक्षु बहुत थोड़े होते हैं। गीता केवल ऐसे

ही मुमुक्षुओं के लिए नहीं है, वह सबके लिए है। जो अभी घोर कर्मों में डूबा है, उसे गीताज्ञान की अधिक आवश्यकता है। पर यह ज्ञान उस व्यक्ति को शनैः शनैः मिलना चाहिए, जिससे वह उसे अपने भीतर पचा सके। पहला व्यक्ति वह है, जो केवल फल पाने के लिए कर्म करता है। स्वार्थ-भिन्न उसका कोई उद्देश्य नहीं होता। वह तो यह चाहता है कि इस हाथ से मैंने कर्म किया, चट उस हाथ से मुझे फल चाहिए। पर जीवन में ऐसे लोग विरले होते हैं, जिन्हें फल अपनी इच्छानुसार मिलता हो। कुछ लोग मनचाहा फल न मिलने के कारण आत्मघात कर लेते हैं। हालीवुड की प्रसिद्ध अभिनेत्री मेरीलीन मुनरो की कथा प्रसिद्ध है। २२ वर्ष की उम्र में विश्व में छा जानेवाली यह सुन्दरी २७ वर्ष की उम्र में नींद की गोलियाँ खाकर आत्मघात कर बैठती है। जिसके चरणों को धन-कुबेर चूमा करते थे, जिसके भ्रू-भंग मात्र से इच्छाएँ पूरी हो जाती थीं, जिसका खजाना कुबेर के लिए भी ईर्ष्या का विषय था, ऐसी उस सुन्दरी को किसका अभाव ऐसा साल रहा था कि उसने आत्महत्या को श्रेयस्कर माना? तो, तात्पर्य यह है कि कर्म का फल अपनी मर्जी के अनुसार कहाँ मिलता है? यदि यह सत्य मनुष्य के भीतर बिठा दिया जाय कि फल का अधिकार तुम्हारा नहीं है, तुम दूसरे का अधिकार हड़पने का प्रयास करोगे, तो पीड़ा ही हाथ लगेगी, तो मनुष्य बहुत कुछ मात्रा में अपने मस्तिष्क को सन्तुलित कर सकेगा। मनुष्य भविष्य

को पकड़ने जाकर वर्तमान को भी खो बैठता है। भविष्य के लिए अकुलाहट हमारे वर्तमान के आनन्द को नष्ट कर देती है। इसलिए जो कामनावान् पुरुष है और फल पाने के लिए ही कर्म करता है, उसे गीता सावधान कर देती है कि फल तुम्हें मिलेगा अवश्य, पर उसके लिए अधीर मत हो, क्योंकि वह तुम्हारी इच्छानुसार ही मिले ऐसी कोई निश्चयता नहीं।

फिर, फल की अत्यधिक लालसा कर्म की गुणवत्ता का नाश कर देती है। ऐसा व्यक्ति कर्म करने में अपनी पूरी शक्ति और समय नहीं लगा पाता, क्योंकि उसका बहुत सा समय वृथा फल के चिन्तन में जाया हो जाता है। फल का चिन्तन करने से समय और शक्ति दोनों का अपव्यय होता है। अतः जो समय और शक्ति व्यक्ति फल के चिन्तन में खर्च करता है, वही यदि कर्म करने में लगा दे, तो कर्म की क्वालिटी सुधरेगी और परिणामतः फल भी अच्छा होगा। एक विद्यार्थी है। परीक्षा के दिन समीप हैं। पिता ने कहा है कि तुम यदि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होगे, तो अपना प्रभाव डालकर तुम्हें विदेश में उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति दिलवा दूँगा। पर यदि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं हुए, तो यह काम न होगा, तुम्हें यहीं पढ़ना होगा। लड़का पढ़ने बैठता है। कुछ पंक्तियाँ पढ़ी होंगी कि फल का चिन्तन उसके मन में शुरू हो जाता है। सोचता है —"अहा, अमेरिका में पढ़ने में क्या मजा आएगा।

सैर-सपाटे भी खूब लगेंगे । कोई गर्ल-फ्रेण्ड होगी । अपना देश तो दकियानूसी है । वहाँ तो सब प्रकार की मौज रहेगी । वहाँ कोई पूछनेवाला न रहेगा । यहाँ तो थोड़ी देर हो गयी घर लौटने में, तो सभी पूछ-पूछकर हैरान कर डालते हैं —कहाँ थे अब तक ? क्या मजा आएगा । फिर पढ़ेंगे भी खूब । लौटकर आएँगे तो बड़ी नौकरी मिल जाएगी । बड़े घर में शादी होगी । खूबसूरत बीबी मिलेगी । गाड़ी होगी, बँगला होगा । समाज में रुतबा रहेगा....।" चिन्तन का क्रम टूटा तो देखा कि घण्टा भर हो गया है और एक पृष्ठ भी वह पूरा नहीं पढ़ पाया। उसे अपने ऊपर झुंझलाहट होती है । वह फिर से मन को पढ़ाई में लगाने की कोशिश करता है । दो-एक पंक्ति पढ़ी होगी कि मन मे विपरीत विचार उठा —"यदि पहली श्रेणी न मिली तो ? तब तो विदेश जाने के लिए छात्रवृत्ति नहीं मिलेगी। तब तो यहीं कहीं कोई नौकरी ढूँढ़नी पड़ेगी । छोटीसी नौकरी, छोटासा वेतन । शादी भी ऐसे किसी मामूली घर में ही होगी । जिन्दगी तबाह हो जायगी....।" और ऐसा सोचते सोचते उसका मन इतना खट्टा हो जाता है कि अब वह मन को पढ़ाई में केन्द्रित ही नहीं कर पाता। वह कुर्सी छोड़ उठ खड़ा होता है और 'फ्रेश' होने के लिए सायकिल उठाकर 'पिक्चर' देखने निकल जाता है । यह एक सामान्य उदाहरण है, जो कमोबेश हम सब पर घटता है । यहाँ पर लड़का फल के निरर्थक चिन्तन में अपनी शक्ति और समय दोनों को नष्ट करता है । यदि उसने फल के चिन्तन में

नष्ट हुए समय और शक्ति को पढ़ने में लगाया होता, तो स्वाभाविक ही उसके पढ़ाईरूप कर्म की क्वालिटी सुधरती और परिणामतः उसका फल भी उत्कृष्ट होता।

इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है कि कर्म तो करो, पर जानो कि उसके फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। जो फल-वासना से परिचालित होकर कर्म करते हैं, वे कर्म से बँध जाते हैं। फलस्वरूप निर्द्वन्द्व और आत्मवान् होने की अवस्था उनसे बहुत दूर हो जाती है। यदि तुम कर्म के द्वारा कर्म का पाश काटना चाहो, तो तुम्हें एक उपाय करना होगा—वह यह कि तुम अपने को फलप्राप्ति का हेतु मत बनाओ। कर्म करने से बन्धन तभी लगता है जब हम अपने को फल का भोक्ता मानते हैं। इसीलिए प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में कहा—'मा कर्मफलहेतुर्भूः'।

'कर्मफलहेतुः' को यदि हमने 'कर्मफलस्य हेतुः' ऐसा समास माना, तो अर्थ हुआ कि अपने को कर्मफल का कारण मत बनाओ। मैं कर्मफल का कारण कब बनता हूँ? जब फल की कामना ले कर्म करता हूँ, जब मैं अपने में भोक्ता-पन का अनुभव करता हूँ। अतः कहा गया कि मैं इस भोक्तापन को दूर करने की चेष्टा करूँ, इसे भी उस ईश्वर को ही सौंप दूँ, जो मुझे कर्म करने की प्रेरणा देता है।

यदि 'कर्मफलहेतुः' को हमने 'कर्मफलं हेतुर्यस्य' ऐसा बहुब्रीहि समास माना, तो उसका तात्पर्य हुआ—कर्मफल की प्राप्ति को कारण बनाकर कर्म करनेवाले मत बनो। संसार में जब मनुष्य कर्म करने जाता है, तो पहले उसके

हृदय में फल की इच्छा होती है, तब फल की इच्छा से उसकी प्राप्ति के उपायों की इच्छा होती है। जैसे किसी को सिनेमा देखने जाना है। उसे उसके लिए पैसा चाहिए। वह पहले पैसा इकट्ठा करने का उपाय करेगा। फलप्राप्ति को कारण बनाकर कर्म करने पर मनुष्य को तनाव और संघर्ष में से गुजरना ही होगा। जो मुमुक्षु है, वह यह तनाव और संघर्ष नहीं चाहता। अतः उसे चाहिए कि वह फल को कारण बनाकर कर्म में प्रवृत्त मत हो, बल्कि उसका कर्म का उद्देश्य रहे लोकसंग्रह, यानी सेवाभाव और चित्त-शुद्धि। जब हमारे कर्मों का उद्देश्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि नहीं होता, जब हम उस ईश्वर की सेवा के निमित्त जीवन के कर्म करते हैं, तो उसका फल होता है चित्त की शुद्धि। ऐसे शुद्ध चित्त में ब्रह्मज्ञान के धारण की क्षमता आती है।

इस पद्य के तीसरे चरण की ऐसी भी व्याख्या की जाती है कि कर्म और फल दोनों के कारण तुम मत बनो, यानी 'मैं कर्म का कर्ता हूँ,' इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान भी अपने ऊपर मत लो और साथ ही 'मैं फल का भोग करूँगा,' इस प्रकार फल-भोक्तृत्व का अभिमान भी तुममें न आए। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान को ही गीता ने 'अहंकार' कहा है। यह अहंकार बन्धन का कारण है। इस बन्धन से छूटने के अलग अलग रास्ते हैं। ज्ञानी मानता है कि कर्म प्रकृति के द्वारा हो रहे हैं और मैं केवल द्रष्टा हूँ। इस प्रकार वह कर्तृत्व का अभिमान अपने ऊपर नहीं लेता, फलतः कर्म उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाते। भक्त

मानता है कि वह पूरी तरह प्रभु के हाथों में है। वह स्वयं की चेष्टा को भी प्रभु का अनुग्रह ही मानता है—अपने को यंत्र और प्रभु को यंत्री मानता है और इस प्रकार कर्म तथा फल के भोग में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव नहीं रखता। कर्मयोगी कर्तृत्व को अपने अधिकार की बात मानता है, पर फल को ईश्वर पर छोड़ देता है। वह भगवत्समर्पित बुद्धि से कर्म करता है। लोकसंग्रह या जन-सेवा को जीवन का प्रयोजन मानता हुआ वह स्वार्थ के घेरे से ऊपर उठ जाता है।

एक अन्तिम प्रतिक्रिया उठती है। अच्छा, बताया गया कि कर्म करने ही में हमारा अधिकार है, फल में नहीं, और यह भी कहा गया कि हमें फल का कारण नहीं बनना चाहिए या हमें फल-प्राप्ति की वासना से प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिए। यदि हमारा फल पर कोई अधिकार ही न हो और हमें फल-प्राप्ति के लिए कर्म करने से मना किया जाता हो, तो हम कर्म करे ही क्यों? न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी। जब कर्म ही नहीं करेंगे, तब फल कैसे मिलेगा? और जब फल नहीं मिला, तो बन्धन भी नहीं हुआ। अत: कर्म का त्याग ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया की सम्भावना को स्वीकार करके ही प्रस्तुत श्लोक के चौथे चरण में सावधान कर दिया गया—'मा ते संगोऽस्तु अकर्मणि'—'कर्महीनता की ओर तेरी रुचि न हो'। अकर्म में, कर्म का त्याग कर देने में, तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। कर्म अवश्य करो, पर फलाशा छोड़कर। फलाशा रखने पर

बन्धन में अधिकाधिक पड़ते जाओगे और कर्म छोड़ देने पर जहाँ के तहाँ ही बने रहोगे । आगे बढ़ने का कोई द्वार न रहेगा । आगे बढ़ानेवाला कर्म ही है। किसी वस्तु में गाँठ भी क्रिया के द्वारा ही लगायी जाती है और उस गाँठ को खोलना हो, तो भी क्रिया ही करनी पड़ती है। इसी प्रकार संसार-बन्धन कर्म से होता है और उस बन्धन को खोलने का रास्ता भी कर्म ही है । गाँठ लगानेवाले कर्म 'प्रवृत्ति कर्म' कहलाते हैं और उसे खोलनेवाले, 'निवृत्ति कर्म' । दोनों ही कर्म हैं । अतः अकर्म में तुम्हारा संग कदापि न हो ।

या तो मनुष्य कहता है—'मैं कर्म करूँगा, तो उसका फल भी अवश्य लूँगा,' या फिर वह घोषणा करता है—'मुझे यदि फल नहीं मिलता है, तो मैं कर्म ही नहीं करूँगा ।' पहला रजोगुणी दृष्टिकोण है, जो कहता है कि लूँगा तो फलसहित, और दूसरा तमोगुणी दृष्टिकोण है, जो कहता है कि छोड़ूँगा तो कर्मसहित । प्रस्तुत श्लोक हमें एक नया पाठ सिखाता है—कर्म तो करो, पर फल का अधिकार छोड़ दो। यह सत्त्वगुणी दृष्टिकोण है।

पूछा जा सकता है कि फलाशा के बिना कर्म करने की प्रेरणा कैसे मिल सकती है ? इसका उत्तर यह है कि निष्कामता कर्म की सबसे बड़ी प्रेरणा है। फलाशा में स्वार्थ होता है, जो हमारी कर्मप्रेरणा को सीमित और कुन्द करता है, जबकि निष्कामता हमारी हर क्रिया को सुरभित और पावन बना देती है । यही गीता का कर्म-सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अन्यत्र (३।२५) कहते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्यात् विद्वांस्तथासक्तः चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

--'हे अर्जुन, कर्मों में आसक्त हुए अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार कर्म करते हैं, लोकसंग्रह करने की इच्छा रखनेवाले ज्ञानी पुरुष को आसक्ति छोड़कर उसी प्रकार कर्म करना चाहिए।' तात्पर्य यह कि जिस प्रकार एक संसारी व्यक्ति घोर कर्म में लिप्त रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को भी कर्म में लगे रहना चाहिए, पर जहाँ संसारी पुरुष में आसक्ति भरी रहती है, वहाँ ज्ञानी पुरुष सर्वथा अनासक्त होकर कर्म करे।

अपने इस कर्म-सिद्धान्त को गीता ने सामान्यतः 'योग' कहकर पुकारा है, जिस पर चर्चा आगे की जाएगी।

●

श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में एक पत्र

रोमाँ रोलाँ

रोमाँ रोलाँ (१८६६-१९४४) 'जीन-खींष्टॉफर' नामक सुप्रसिद्ध उपन्यास के लेखक हैं। १९१५ ई० में उन्हें नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। वे एक असाधारण साहित्यिक के रूप में ही परिचित नहीं है प्रत्युत वे एक महान् आदर्शवादी के रूप से भी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वयं कहा था कि उनका समग्र जीवन मानवता में मेल लाने के लिए समर्पित है। अतःयह अचरज की बात नहीं कि ये फ्रांसीसी लेखक सभी धर्मों के समन्वय के उपदेष्टा श्रीरामकृष्ण की जीवनी एवं उपदेशों में रुचि लेने लगे हों।

प्रस्तुत लेख श्रीरामकृष्ण के अन्तरग शिष्य स्वामी शिवानन्दजी को उनके द्वारा अँगरेजी में लिखे पत्र का अनुवाद है। शिवानन्दजी तब रामकृष्ण संघ के दूसरे अध्यक्ष थे। यह पत्र 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' नामक अँगरेजी द्वय-मासिक पत्रिका के १४९वें अंक (मई-जून, १९६१) में प्रकाशित हुआ था।

यह पत्र दो कारणों से उल्लेखनीय है। प्रथमतः, वह श्रीराम-कृष्ण और उनके सन्देश की सराहना करते हुए लिखा गया सुन्दर दस्तावेज है। द्वितीयतः, वह रोलाँ की उस योजना को प्रकट करता है, जिसमें वे इस महापुरुष की जीवनी से पश्चिमी जगत् को परिचित कराना चाहते हैं। उनकी यह योजना १९२८ ई० में साकार हुई और फलस्वरूप उनके दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए--'दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण' (रामकृष्ण की जीवनी) एवं 'दि लाइफ ऑफ विवेकानन्द' (विवेकानन्द की जीवनी)। ये दोनों ग्रन्थ एक पुस्तकाकार में भी 'दि प्राफेट्स ऑफ न्यू इण्डिया' (नये भारत के मसीहा) के नाम से प्रकाशित हुए। इन दो जीवनियों की रचना कर रोलाँ उस हिन्दू अध्यात्म के नवजागरण में समग्र संसार की रुचि आकर्षित करने में निमित्त बने, जो श्रीरामकृष्ण और उनके शिष्यों के जीवन में अभिव्यक्त हुआ था।--स०

विलेनूव (वांड)
स्विस विलाओ'गा
१२ सितम्बर १९२७

प्रिय एवं श्रद्धेय स्वामी शिवानन्द,

इस फ्रांसीसी को, जो श्रीरामकृष्ण के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखता है, अनुमति दें कि आपको, जिन्हें उनका अन्तरंग शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त है, सम्बोधित कर सके।

एक वर्ष पूर्व, मैंने और मेरी बहन मैडेलीन रोलाँ ने अद्वैत आश्रम से प्रकाशित श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा उनसे सम्बन्धित अन्य साहित्य पढ़ा। मैं पाश्चात्य जगत् को उस प्रेम और प्रकाश के दैवी स्रोत से परिचित कराना चाहता हूँ। हमारी इस समय की मानवता को आज अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता इतनी नहीं, जितनी इस सत्य के प्रकटीकरण की, जिसमें सभी धर्मों का सौजन्यपूर्ण समन्वय है--जितनी इस ईश्वर से संलाप की, जो विभिन्न रूपधारी होकर भी निराकार है, जो सभी जीवों की अन्तरात्मा है।

परन्तु श्रीरामकृष्ण जैसे व्यक्तित्व को, जो इतना समग्रतः भारतीय है, पाश्चात्य पुस्तक के रूप में अनूदित करना या चित्रित करना अत्यन्त सावधानी का कार्य है; क्योंकि उनके कुछ आध्यात्मिक अनुभवों को समझना यूरोप के प्रायःसभी लोगों की समझ से परे होगा और इसलिए भय है कि उनके जीवन और विचारों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता ही कहीं छिपी न रह जाए, जो कि वस्तुतः उन्हें

समझने के लिए बहुत प्रभावशाली और लाभदायक सिद्ध हो सकती है। यही कारण है कि मैं धीरे धीरे बढ़ रहा हूँ और मैं उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब मुझे अपने अन्दर, जो मैं करना चाहता हूँ उस कार्य के जीवन्त एवं यथार्थ सामंजस्य का बोध होने लगे।

यह मेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान् सौभाग्य है कि जिन्होंने अपनी स्वयं की आँखों से उस अलौकिक पुरुष के दर्शन किये हैं, ऐसे आपसे प्रत्यक्ष सम्पर्क कर पा रहा हूँ। हमारा यह युग अतिबुद्धिवादी है, यहाँ तक कि ऐतिहासिक महामानवों के मानवीय अस्तित्व में ही संशय करने की प्रवृत्ति है। यदि कभी वह उन श्रेष्ठ विचारों के प्रति आदर का दिखावा करता भी है, जिसके कि ये महामानव मशाल के समान रहे हैं, तो वह उनमें उस जाति या युग की विचारधारा का मात्र प्रतीक देखता है; आज ऐसे भी लोग दीख पड़ते हैं, जो ईसा या बुद्ध कभी थे इस बात को ही अस्वीकारते हैं। श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में भी ऐसा करने में देरी न लगेगी, यदि प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा अपने सम्मुख जिये उस जीवन के प्रत्यक्ष प्रमाण लिपिबद्ध कर संसार के लिए छोड़ न दिये जाएँ। मैं चाहता हूँ कि यूरोप के लोग आपके प्रत्यक्ष देखे अनुभवों से परिचित हो सकें।

साथ ही, एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर आपके द्वारा प्रकाश डालने की प्रार्थना करता हूँ--दुःख की समस्या के प्रति श्रीरामकृष्ण। अभी कुछ दिन पहले ही मैंने 'प्रबुद्ध भारत' में विवेकानन्द एवं रामकृष्ण के सन्दर्भ में 'सेवा' पर एक बहुत

सुन्दर लेख पढ़ा, जिसमें यह कहा गया है कि उस महान् शिष्य ने अपने गुरु के 'जीव की शिवज्ञान से पूजा' रूप उपदेश से ही अपने कार्यों की समस्त प्रेरणा ली और यह कि उन दोनों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं था। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि विवेकानन्द के व्यक्तित्व की अधिक प्रमुख विशिष्टता थी विश्वव्यापी दुःख और बुराई के विरुद्ध योद्धा के रूप में संग्राम करना या संवेदनशील हो सहानुभूति प्रदान करना। क्या यह दृष्टिकोण उस सर्वत्र ईश्वर-दर्शन से सर्वथा भिन्न नहीं, जो रामकृष्ण को दिव्य आनन्द और शाश्वत सत्ता के प्रति गहरी श्रद्धा और भावोत्कर्ष से भरकर समाधिस्थ कर देता था ?

उनका समाज और प्रकृति के क्रूर अत्याचारों के प्रति, अभागे, प्रताड़ित अथवा सताये हुए लोगों के प्रति क्या दृष्टिकोण था ? क्या उनसे मात्र प्रेम करके ही वे सन्तुष्ट थे ? क्या उन्होंने उनकी सहायता करने का प्रयास नहीं किया ? और क्या उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य विवेकानन्द को यह सब कार्य करने के लिए निश्चित रूप से पूर्वनिर्दिष्ट नहीं किया है ?

मेरा विश्वास करें, प्रिय स्वामी शिवानन्द,

आपका स्नेहाकांक्षी,

रोमाँ रोलाँ

स्वामी शिवानन्दजी को लिखे इस पत्र में रोमाँ रोलाँ ने एक ऐसे प्रश्न को उठाया है, जो प्रायः पाश्चात्य मस्तिष्क को भ्रमित कर देता है--ईश्वर-दर्शन और मानवीय दुःख-निराकरण के बीच

क्या सम्बन्ध है ? नीचे रोमाँ रोलाँ द्वारा लिखित 'रामकृष्ण की जीवनी' से कुछ अंश उद्धृत है, जिसमें स्वामी शिवानन्दजी द्वारा उक्त प्रश्न का दिया गया उत्तर सन्निहित है ।

श्रीरामकृष्ण के लिए दया का अर्थ प्रत्येक मानव में ईश्वर जानकर प्रेम करने से किसी प्रकार कम न था; क्योंकि ईश्वर ही मानव का रूप धारण किये हुए है । कोई किसी मनुष्य से तब तक प्रेम नहीं कर सकता और न उसकी कोई सहायता ही कर सकता है, जब तक कि वह उसके अन्दर विराजित ईश्वर से प्रेम नहीं करता । इससे स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि कोई ईश्वर को सही अर्थों में तब तक नहीं जान सकता, जब तक वह प्रत्येक मानव में उसे नहीं देखता ।

स्वामी शिवानन्द आजकल रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं और उन पर यह दायित्व है कि श्रीरामकृष्ण के सिद्धान्तों का सही प्रतिपादन हो । उन्होंने ७ दिसम्बर १९२७ को जो निम्नलिखित पंक्तियाँ मुझे लिख भेजी हैं, उनका आध्यात्मिक अर्थ पास्कल (एक फ्रांसीसी मनीषी) के पाठकों के लिए परिचित होगा--

"ऐसा लगता है कि आप मानव में ईश्वर-दर्शन और विश्वव्यापी दुःख के निराकरण के लिए सेवा के माध्यम से अभिव्यक्त गहरी समवेदना में अन्तर मानते हैं । मुझे तो दिखायी देता है कि ये दोनों मानो मन की एक ही स्थिति के मात्र दो पक्ष हैं, न कि दो विभिन्न मानसिक स्थितियाँ । एकमात्र मानव के भीतर स्थित दिव्यता के दर्शन से ही

उसके दु:ख का सही अन्दाज हो सकता है, क्योंकि तब तक उसका आध्यात्मिक दारिद्रय, उसका पूर्णता और दिव्य आनन्द का अभाव हमारे हृदय को इतने स्पष्ट रूप से नहीं छू सकता। मनुष्य वस्तुत: दिव्य स्वरूपवाला है, पर आज अज्ञान के कारण वह दु:खों से संत्रस्त हो रहा है। उसके यथार्थ स्वरूप और आज की अवस्था के बीच यह जो दुखद अन्तर है, उसका अनुभव करनेवाली समवेदना ही मानवता की सेवा के लिए हृदय को कचोटती है। स्वयं तथा दूसरों के भीतर इस दिव्यता का अनुभव किये बिना वास्तविक सहानुभूति, वास्तविक प्रेम, वास्तविक सेवा असम्भव है। यही कारण है कि श्रीरामकृष्ण चाहते थे कि उनके शिष्य आत्म-साक्षात्कार करें, अन्यथा मानवता की सेवा के लिए वे लाभदायी रूप से अपने जीवन का उत्सर्ग नहीं कर सकेंगे।"

•

साहित्य वीथी

पुस्तक-समीक्षा

ग्रन्थ का नाम : **आरत्रिक भजन और श्री श्रीरामकृष्ण-सारदानामामृतम्**

सम्पादक : स्वामी अपूर्वानन्द।

प्रकाशक : रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम बारासत (२४ परगना),

मूल्य- रु० १·५०

प्रस्तुत पुस्तिका में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव और उनकी लीलासहचरी श्री माँ सारदादेवी की अलौकिक जीवनलीलाओं को नामसकीर्तन की शैली में प्रस्तुत किया गया है। श्रीरामकृष्ण देव की प्रार्थना, प्रणाम, श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्यों की वन्दना, श्रीश्रीरामकृष्णनामामृत एवं नामामृत माहात्म्य की रचना तथा

उनकी स्वरलिपियों के प्रकाशन से प्रस्तुत पुस्तिका की उपयोगिता बढ़ गयी है। इसी प्रकार श्री माँ सारदादेवी की श्रीश्रीशारदानवकम्, देवीध्यानम्, श्रीमत्याः शारदादेव्याः स्तोत्रम्, श्रीश्रीशारदानामामृतम्, मातृप्रशस्ति, देवीस्तुतिः, देवी अभ्यर्थनम् का समावेश भी इसमें हुआ है। इसके साथ ही श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ सारदादेवी विषयक उन्नीस गीत भी यहाँ संकलित हैं। १०४ पृष्ठों की यह पुस्तिका भक्ति-रस से युक्त है तथा श्रीरामकृष्ण-भक्तसमुदाय के लिए संग्रहणीय है।

ग्रन्थ का नाम : **श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री**

ग्रन्थकार : अध्यापक भंडारकर, श्री त्र्यंबक शर्मा,

सम्पादक— आचार्य आनन्द झा

अनुवादक : गोपालचन्द्र चक्रवर्ती

प्रकाशक : रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम, बारासत (२४ परगना),

मूल्य रु० १०·००।

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों को संस्कृत श्लोकों की शैली में 'श्रीश्रीरामकृष्णदेवउपदेशसाहस्री' में प्रस्तुत किया गया है। अठारह अध्यायों के अन्तर्गत बारह सौ श्लोकों में श्रीरामकृष्ण देव के वचनों को देवभाषा में निबद्ध कर प्रस्तुत करना एक प्रशंसनीय कार्य है। श्लोकों का तात्पर्य हिन्दी भाषा में भी प्रस्तुत किया गया है। इससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गयी है। श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों को संस्कृत श्लोकों के रूप में प्रस्तुत करने का कार्य उनके अन्तरंग शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने प्रारम्भ किया था। उनकी रचना अब तक अलभ्य थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुसन्धान करके उसे संकलित किया गया है। आशा है कि तीन सौ से भी अधिक पृष्ठों का यह ग्रन्थ भक्तिभाव के प्रसार में पूर्णतः सफल होगा।

——डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा

०

प्रश्न–प्राय: देखा जाता है कि मन में ऊट-पटाँग विचार बहुत आते हैं। अच्छे विचार अधिक समय के लिए टिक नहीं पाते। तो ऊट-पटाँग विचारों से मुक्ति कैसे मिले? क्या ऐसे विचारों से मुक्ति असम्भव है?

--रामनरेश दिवाकर, पटना

उत्तर–मन में जन्म-जन्मान्तर के संस्कार भरे हुए हैं। इनमें षड्‌रिपुओं से सम्बन्धित संस्कार ही अधिक मात्रा में होते हैं, इसलिए मन के विचारों में ऐसे ही संस्कारों की प्रबलता होती है। इन्द्रियों का विषयों के प्रति जो आकर्षण है, वह समुद्र की ओर बहती हुई वेगवती धारा के समान प्रबल है। जीवों की सामान्यत: रुचि ऐसे विषयों की ओर ही होती है। अच्छे विचार उस धारा की विपरीत दिशा में जाने के लिए किये गये प्रयास की तरह हैं। जैसे धारा हमें बलपूर्वक अपने बहाव के साथ ठेलती है, विपरीत दिशा में जाने के हमारे प्रयास को व्यर्थ बनाने की चेष्टा करती है, उसी प्रकार जब हम अच्छे विचारों को मन में उठाने का प्रयास करते हैं, तो मन की स्वभाव से निम्नगामी धारा उन्हें दबाने और नष्ट करने की कोशिश करती है। यह क्रिया सतत हमारे जीवन में घटती रहती है।

इससे मुक्ति पाने का उपाय है। यद्यपि यह कठिन मालूम पड़ता है, तथापि अध्यवसायपूर्वक इसकी साधना में लगे रहने पर

इसमें सफलता अवश्य मिलती है। अर्जुन जैसे महावीर ने यह कहकर घुटने टेक दिये थे कि मन को वश में करना वायु को वश में करने के समान कठिन है। भगवान् कृष्ण अर्जुन की बात को काटते नहीं वे भी मानते हैं कि मन के साथ लड़ाई करना सहज नहीं है, पर वे इसे असम्भव नहीं मानते। वे 'अभ्यास' और 'वैराग्य' को सक्षम साधन मानते हैं, जिसमें अध्यवसायपूर्वक लगे रहने से हम अवांछित विचारों से मुक्ति पा सकते हैं।

'वैराग्य' और 'अभ्यास' परस्पर पूरक साधन हैं। विवेक के द्वारा वैराग्य पुष्ट होता है और वैराग्य से अभ्यास में दृढ़ता आती है। अच्छे और बुरे का विचार, नित्य और अनित्य का विचार, शुभ और अशुभ का विचार 'विवेक' कहलाता है। ऐसा विश्लेषण करते हुए हमें अपने आपको बुरे, अनित्य और अशुभ से दूर रखने की सतत चेष्टा करनी चाहिए तथा अच्छा, नित्य और शुभ का निरन्तर चिन्तन और व्यवहार करना चाहिए। इसके लिए सत्साहित्य का पाठ तथा सत्संग अत्यन्त लाभदायक होता है। जैसे प्रवाह की विपरीत दिशा में जाना हो, तो अच्छे तैराक का साथ हमें बल और सहायता दोनों प्रदान करता है, कहीं हम डूबने लगें या थककर निराश होने लगें, तो जैसे वह सहारा देकर या उत्साहित कर प्रवाह को उचित दिशा में काटते हुए हमें बढ़ाता रहता है, उसी प्रकार गुरु का आश्रय और सत्संग हमारी रक्षा करता है, हमारे शुभ विचारों को बल देता है और हमें सामर्थ्य देता है, जिससे हम ऊट-पटाँग विचारों को ठीक दिशा में काटकर अपना रास्ता निकाल लें। इस प्रकार निष्ठापूर्वक लगे रहने से एक दिन हम अपनी साधना में सफल होते हैं और मन के ऊट-पटाँग विचारों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं।

●